गुरुतं

भाग-20

मंगल आशीर्वाद :

परम पूज्य सिद्धान्त चक्रवर्ती
श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

प्रवचनकार :

आचार्य वसुनंदी मुनि

कृति : गुरुत्तं भाग-20

मंगल आशीर्वाद : प.पू. सिद्धान्त चक्रवर्ती श्वेतपिच्छाचार्य
श्री विद्यानंद जी मुनिराज

प्रवचनकार : आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज

सम्पादन : आर्यिका वर्धस्व नंदनी

संस्करण : प्रथम (सन् 2026)

प्रतियाँ : 1000

ISBN : **978-93-94199-39-2**

मूल्य : 61/- (Not for Sale)

प्रकाशक : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति (रजि.)

प्राप्ति स्थल : निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला समिति कार्यालय
मो. 9971548889, 8800091252

मुद्रक : मित्तल इंडस्ट्रीज़, नई दिल्ली
मो. 9312401976

Visit us @ www.acharyavasunandi.com

संपादकीय

सम्यगेतत्सुधाम्भोधेर्बिन्दुमप्यालिहन्मुहुः।
जन्तुर्न जायते जातु जन्मज्वलन भाजनः॥

जो प्राणी जिनवाणी रूपी अमृत समुद्र की एक बूँद का भी बार-बार आस्वादन करता है, वह कभी संसार रूपी अग्नि का पात्र नहीं होता है।

विमलगुणनिधानं विश्वविज्ञानबीजं,
जिनमुनिगणसेव्यं सर्वतत्त्वप्रदीपम्।
दुरितघनसमीरं पुण्यतीर्थं जिनोक्तं,
मनइभमदसिंहं ज्ञानमाराधय त्वम्॥ सु.र.

जो निर्मल गुणों का खजाना है, समस्त विज्ञान का बीज है, जिनमुनियों के द्वारा सेवनीय है, समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिए उत्तम दीपक है, पाप रूपी मेघों को उड़ाने के लिए प्रचंड वायु है, पुण्य-प्राप्ति के लिए तीर्थ है तथा मन रूपी हाथी को वश में करने के लिए सिंह है, ऐसे जिनेन्द्रकथित ज्ञान की तुम आराधाना करो।

संसार में अनेक प्रकार की सम्पत्तियाँ हैं, किन्तु उसमें से कोई भी आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय नहीं करा सकती। इस यथार्थता से परिचय कराने में, आत्मा को कर्मबन्धनों से मुक्त कराने में जो महत्वपूर्ण स्थान रखता है, वह है-सम्यग्ज्ञान। ज्ञान ग्रन्थों में सुरक्षित शब्दों का संग्रह नहीं है, बल्कि वह है जो आत्मा को हित की प्राप्ति व अहित के परिहार का बोध कराकर उसे परमात्म रूप तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखता है।

शास्त्र ज्ञान का भंडार हैं परन्तु शास्त्रों के मर्म को जीवन में उतारने की प्रेरणा गुरु से ही प्राप्त होती है। मानव जीवन का सबसे बड़ा सौभाग्य क्या है? धन, वैभव, प्रतिष्ठा, पद, सत्कार अथवा

संसार की उपलब्धियाँ? नहीं। ये सब जीवन को सुविधापूर्ण तो बना सकती हैं किन्तु समीचीन मार्गनिर्देशन नहीं कर सकतीं। समीचीन मार्गनिर्देशन तो वे ही गुरु कर सकते हैं जिनका जीवन शास्त्रों का सजीव स्वरूप हो, त्याग, तप, साधना की अग्नि में तपकर जिनके श्रीमुख से निकला प्रत्येक शब्द अमृत स्वरूप हो।

आज व्यक्ति हाथ में सूचनाओं का अंबार लेकर घूमता है। आधुनिक युग ज्ञान-विस्फोट का युग कहा जाता है। किन्तु इसके पश्चात् भी व्यक्ति पहले से भी अधिक चिंतित, अशान्त, दिशाहीन व अवसादग्रस्त दिखाई दे रहा है। कारण यह है कि मात्र सूचनाएँ बढ़ी हैं, किन्तु सूचनाओं को एकत्रित करना ज्ञान नहीं है। अपितु आत्मबोध प्राप्त करना, हेय व उपादेय का बोध ही ज्ञान है। आज बुद्धि का विस्तार तो हुआ है किन्तु मानवों का विवेक संकुचित हो गया है। ऐसे में गुरुओं की वाणी ही जीवन को सम्यक् दिशा, नवीन एवं समीचीन आयाम दे सकती है, उसे संतुलित, संयमित व अनुशासित बना सकती है।

परम पूज्य प्राकृतभाषा चक्रवर्ती, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री वसुनंदी जी मुनिराज की मिष्ट व ओजस्वी वाणी व्यक्ति के जीवन को परिवर्तित करने का सामर्थ्य रखती है। उनकी वाणी मानव जीवन में क्षमा, विवेक, करुणा, समत्वभाव व आत्मविश्वास का संचार करने की अद्‌भुत सामर्थ्य से युक्त है। उनके श्रीमुख से निसर्गित वाणी में एक विलक्षण समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उसमें आगम की प्रामाणिकता, दर्शन की गहराई, साहित्य की सरसता, तर्क की स्पष्टता और आत्मकल्याण की गरिमा है। कई बार ऐसा अनुभव होता है कि वे प्रवचन नहीं दे रहे बल्कि व्यक्ति के मन की गाँठों को एक-एक करके खोल रहे हों, उसके मन में जकड़ी शंकाओं की गुत्थी को एक-एक करके सुलझा रहे हों।

आचार्य गुरुवर की वाणी की सरसता व मधुरता तब स्वतः ही ज्ञात होती है जब उनके मुख से निकला प्रत्येक शब्द सीधे हृदय में प्रवेश पाता है। तभी उनके प्रवचन **'मीठे-प्रवचन'** के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हैं।

आज समाज में न पुस्तकों की कमी है और न वक्ताओं की कमी है किन्तु समीचीन शिक्षा देने वाली, जीवन का सम्यक् मार्गनिर्देशन करने वाली वह वाणी अवश्य दुर्लभ है; जो ज्ञान, तप, संयम और साधना से अनुस्यूत हो। आचार्य गुरुवर की वाणी में वह आकर्षण है कि जो एक बार उनके प्रवचन सुनता है, उसके भीतर पुनः उन्हें सुनने की प्यास जागृत होती है और जो पढ़ता है, उसके भीतर मनन की प्रेरणा उत्पन्न होती है।

इसी अमूल्य गुरुवाणी को अधिकाधिक जन-जन तक पहुँचाने की भावना से वर्ष 2016 में **'गुरुत्तं'** इस प्रवचन श्रृंखला का शुभारम्भ हुआ था। तब मन में एक ही संकल्प था कि आचार्य भगवन् के श्रीमुख से निकले अमृततुल्य वचनों को समय की सीमाओं से परे सुरक्षित कर दिया जाए, ताकि जो लोग प्रत्यक्ष श्रवण का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर पाते, उन तक भी गुरु की वाणी पहुँच सके। उस समय यह अनुमान नहीं था कि यह श्रृंखला बीसवें सोपान तक पहुँच जाएगी और अनेक पाठकों के जीवन का अंग बन जाएगी।

देश व विदेश के विभिन्न भागों से प्राप्त होने वाले संदेश इस बात के साक्षी हैं कि पाठकों ने 'गुरुत्तं' को जीवन में उतारने का प्रयास किया है। अनेक परिवारों में यह नित्य स्वाध्याय का अंग बना, अनेक युवाओं ने इससे जीवन जीने की कला सीखी और अनेक साधकों ने इसे आत्मचिंतन का आधार बनाया।

''प्रस्तुत कृति **गुरुत्तं भाग-20**'' में संकलित प्रवचन जीवन के विविध आयामों का स्पर्श करते हैं। जीवन प्रबंधन के सूत्र, गुरु का महत्व, आत्मकल्याण के पाँच सूत्र, खर्च कहाँ और कैसे, दृढ़संकल्प की शक्ति, जैन धर्म का प्राण-भावना एवं सहनशक्ति जैसे शीर्षक इस कृति में समाहित हैं, जो व्यक्ति को केवल पढ़ने के लिए ही नहीं अपितु बार-बार चिन्तन व मनन के लिए भी बाध्य करते हैं।

यद्यपि आचार्य भगवन् की वाणी का संकलन अनंत आकाश

को शब्दों में बांधने जैसा या समुद्र को एक पात्र में भरने जैसा ही है। क्योंकि आचार्य भगवन् के प्रत्येक प्रवचन में जितनी अनुभूति, गहराई और आध्यात्मिक वैभव समाहित है, उसे पूर्णतः शब्दों में बाँध पाना किसी के लिए भी संभव नहीं। यह संकलन उस विराट अमृत स्वरूप ज्ञान सागर की कुछ बूंदें ही हैं।

यदि इस कार्य का कोई श्रेय है तो वह पूर्णतः गुरुकृपा है। हम तो केवल उस दीपशिखा के समीप रखा एक छोटा-सा दीप हैं, जिसे प्रकाश देने की स्वयं में सामर्थ्य नहीं अपितु मूलज्योति से ही प्राप्त होती है। यदि इस कृति से किसी की भी सम्यक् श्रद्धा अटल हो, जीवन को समीचीन दिशा मिली हो और कृतज्ञतादि गुणों का प्रादुर्भाव हुआ हो तो यही हमारे लघु प्रयास का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार होगा।

शिष्य का समस्त जीवन भी यदि कृतज्ञता का एक शब्द बन जाए तब भी वह गुरुकृपा के महाग्रन्थ का केवल एक अक्षर ही होगा। जिनके वचनों से अनेक आत्माएँ प्रकाश पा रही हैं, उन आचार्य भगवन् के चरणों में मैं अनंतबार नमन करती हूँ।

इस कृति के संपादन में जो कुछ श्रेष्ठ है वह सब गुरुकृपा ही है और यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो मेरी अल्पज्ञता के लिए क्षमा करते हुए गुणग्राहक हँसवत नीर-क्षीर-दृष्टि से ही कृति का पठन-चिन्तन व मनन करें। इस पुस्तक के प्रकाशन, मुद्रणादि में सहयोगी महानुभावों को पूज्य आचार्य गुरुदेव का धर्मवृद्धि शुभाशीष।

अंत में परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, प्राकृत भाषा चक्रवर्ती आचार्य श्री वसुनन्दी जी गुरुदेव के चरणों में अनन्तशः नमोस्तु करते हुए यही शुभभावना है कि उनकी ज्ञानधारा अनवरत प्रवाहित होती रहे, उनकी करुणामयी ओजस्वी वाणी से युगों-युगों तक अनेक जीव लाभान्वित होते रहें, उनके वर्धमान तप व साधना के साथ आरोग्य लाभ भी सदैव प्रवर्धमान रहे।

- आर्यिका वर्धस्व नंदिनी

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	जीवन प्रबंधन के सूत्र	1
2.	गुरु का महत्व	24
3.	आत्मकल्याण के पाँच सूत्र	39
4.	खर्च कहाँ और कैसे?	53
5.	दृढ़ संकल्प की शक्ति	64
6.	पुण्य-पाप समीकरण	80
7.	सतरंगी इन्द्रधनुषमय जीवन	93
8.	भावों की दिशा, जीवन की दशा	114
9.	कर्तव्य	130
10.	जैनधर्म का प्राण-भावनाएँ	140
11.	सहनशक्ति ही शक्ति	149
12.	पुण्यात्मा कौन?	159

जीवन प्रबंधन के सूत्र
Life Management

महानुभाव! आज हम देखते हैं व्यवस्था के संबंध में। यदि व्यापार को व्यवस्थित करना हो, तो उसके लिए Business Management आवश्यक होता है। परिवार को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए Family Management की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति को अपने व्यवसाय, शिक्षा अथवा जीवन के किसी भी क्षेत्र में उन्नति करनी हो, तो उसे सही दिशा में प्रयास करना पड़ता है।

केवल एक दिशा में उन्नति कर लेने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन सफल हो गया। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति को किसी एक कार्य में सफलता मिल जाए, तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उसका जीवन पूर्णतः सफल हो गया है।

आप जानते हैं कि जिस वृक्ष पर फल नहीं लगते, वह अधिक सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं करता। लोग प्रायः ऐसे वृक्ष को अनुपयोगी समझते हैं। समाज में भी बाँझ स्त्री अथवा नपुंसक पुरुष जो वंशवृद्धि करने में समर्थ नहीं है, उसका सम्मान नहीं किया जाता। समाज में वही व्यक्ति सम्मान पाता है जो समाज के लिए उपयोगी होता है; जो व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी नहीं बन पाता, उसकी लोकप्रियता भी नहीं बन पाती।

इसी प्रकार यदि नारी केवल रूप से सुन्दर हो, परन्तु उसके भीतर गुण और संस्कार न हों, तो उसका सौन्दर्य भी अर्थहीन एवं अधूरा रह जाता है। जैसे फलहीन वृक्ष की उपयोगिता कम समझी जाती है, वैसे ही गुणहीन एवं अर्थहीन जीवन भी विद्वानों की दृष्टि में हेय हो जाता है।

मनुष्य जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। देवताओं को भी यह मानव जन्म सहजता से प्राप्त नहीं होता।

''नरकाया को सुरपति तरसे, सो दुर्लभ प्राणी''।

कौन सी काया को सुरपति तरसते हैं? पाप में लिप्त, विषयों में आसक्त, कषायों का पोषण करने वाली नरकाया? अथवा जो नरकाया अज्ञान एवं असंयम से सहित है, क्या उसके लिए देवों का स्वामी इंद्र तरसता है? नहीं, जो नरकाया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र से युक्त है, जिस मनुष्यभव को प्राप्त करके कर्मों की क्षपणा की जा सके ऐसे योगी के शरीर को प्राप्त करने के लिए इंद्र तरसता है। अतः आवश्यक है कि हम अपने जीवन को व्यवस्थित और संयोजित (Manage) करना सीखें।

जैसे घर में यदि वस्तुएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हों, तो अच्छी वस्तुएँ भी उबाऊ लगती हैं, आवश्यकता पड़ने पर उपयोगी वस्तु भी तुरंत नहीं मिलती; किन्तु जो गृहिणी घर के सामान को व्यवस्थित रखती है, उसे सब कुछ समय पर मिल जाता है। उसी प्रकार जीवन में भी व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। अव्यवस्थित जीवन खतरनाक होता है।

ड्राइवर अपनी गाड़ी को डिसबैलेंस नहीं होने देता, किसान हल जोतते समय भी लाइन सीधी रखता है। उसे व्यवस्थित करके चलता है। सभी क्षेत्रों में हम व्यवस्था बनाते हैं किन्तु जीवन को व्यवस्थित करना भूल जाते हैं।

यदि जीवन डिसबैलेंस (Disbalance) हो जाता है तो व्यक्ति बेचैन हो जाता है। जैसे मैदान में खेलते समय जब हार-जीत होती है तो खिलाड़ी भी बेचैन हो जाता है। वह सोचता है कि उस दिशा को देखना चाहिए जहाँ से जीत मिल सके। उसी प्रकार जीवन में भी जब संतुलन नहीं रहता तो व्यक्ति को शांति नहीं मिल पाती। वह हमेशा संघर्ष या तनाव में रहता है।

मनुष्य के जीवन में व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु आज हम देखते हैं कि हम स्वयं को देखने के स्थान पर दूसरों को मैनेज करने लग जाते हैं।

एक पिता अपने बेटे को मैनेज करना चाहता है। बेटा अपने पिता को अपने अनुकूल चलाना चाहता है। इसी प्रकार सास बहू को और बहू सास को अपने ढंग से मैनेज करना चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को समझाने और बदलने में लगा हुआ है, परन्तु अपने आपको भूलकर चाहे कुछ भी कर लें, उसे ऐसे ही समझें जैसे किसी घर में बहुत-से विद्युत उपकरण लगे हों, पर यदि वहाँ लाइट ही न हो, तो वे सभी उपकरण व्यर्थ हो जाते हैं। उसी प्रकार यदि मनुष्य अपने जीवन को सही प्रकार से मैनेज नहीं

करता, तो जीवन की सारी व्यवस्थाएँ भी व्यर्थ हो जाती हैं। इसलिए जीवन तभी जीवंत और सार्थक बनता है जब वह व्यवस्थित होता है।

अव्यवस्थित जीवन को कोई भी व्यक्ति अच्छी दृष्टि से नहीं देखता। ऐसा जीवन सम्मान या प्रतिष्ठा भी प्राप्त नहीं कर पाता। अव्यवस्थित जीवन मनुष्य की योग्यता को भी दबा देता है।

जीवन को व्यवस्थित करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने समय, व्यवहार और कार्यों पर ध्यान दे। थोड़ी-सी सावधानी भी जीवन को व्यवस्थित बना सकती है।

आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामी जी ने भी लिखा है कि जिस व्यक्ति का जीवन रत्नत्रय के माध्यम से व्यवस्थित नहीं है, उसका जीवन चलता-फिरता माँसपिण्ड है; और जिसने रत्नत्रय के माध्यम से अपने जीवन को व्यवस्थित कर लिया, उसका जीवन वास्तव में जीवंत और सफल बन जाता है, और इतना ही नहीं वह भविष्य का परमात्मा है।

महानुभाव! भारतीय संस्कृति में भी जीवन को व्यवस्थित करने के लिए चार सूत्र बताए गए हैं।

शांति-पुष्टिं पवित्रं च, आनंद-मिति तत्वतः।
जीवनं-जीवनं प्राहुः भारतीय सुसंस्कृतौ॥

भारतीय संस्कृति में उस जीवन को ही जीवन कहा है, जिस जीवन में ये चार बातें हों। चार दिन की जिंदगी में चार बातें चाहिए।

हमारे चारपन–बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था–इन्हीं चार सूत्रों से सफल होते हैं। शांति हो, संतोष हो, पवित्रता हो और जीवन में आनंद हो–ऐसा भारतीय संस्कृति में कहा है। आज हम जीवंत जीवन के मायने क्या समझते हैं? जीवन शब्द को अंग्रेजी भाषा में कहते हैं–"LIFE"। आज का विषय है–Life Management (जीवन प्रबंधन)।

LIFE शब्द में चार अक्षर हैं–L, I, F, E। 'L' के मायने से हम समझते हैं–**Love (प्रेम)**

जीवन का प्रारंभ प्रेम से होता है और प्रेम के अनेक रूप होते हैं। प्रेम का विकृत रूप भी होता है, प्रेम का सुकृत रूप भी होता है और प्रेम का शुद्ध रूप भी होता है। प्रेम का विकृत या विकारी रूप है–मोह, ममत्व, आसक्ति, वासना। सुकृत रूप होता है–स्नेह, भक्ति, वात्सल्य और प्रेम का परम शुद्ध रूप होता है–आत्मलीनता।

प्रेम के बिना संसार में किसी भी प्राणी का जीवन चल ही नहीं सकता। उस प्रेम का रूप चाहे कोई भी हो। व्यक्ति मात्र भोजन-पानी या श्वास लेने से ही नहीं जीता। ऐसे तो बेहोश व्यक्ति भी वर्षों तक जीता रहता है, किन्तु वास्तव में जीवन में आनंद तब आता है जब उसकी आत्मा में प्रेम ऐसे निर्झरित हो जैसे कुएँ में से जल, आकाश में से मेघमाला (वर्षा) निकलती है। वैसे ही आपकी आत्मा में से प्राणिमात्र के प्रति प्रेम निकलना चाहिए।

जब व्यक्ति कहता है–"मैं तुमसे प्रेम करता हूँ", तब तन

को स्पर्श करने की चेष्टा वासना कहलाती है, प्रेम नहीं। हम संसार के प्रत्येक प्राणी से प्रेम कर सकते हैं। प्रेम आत्मा का आत्मा से होता है। शरीर बीच में नहीं आता। जहाँ शरीर से शरीर की वांछा होती है, उसे वासना कहते हैं। वह कुत्सित होती है, गंदी-विकृत होती है। प्रेम तो गंगा की शुद्ध निर्मल धारा की तरह होता है। जिसका अंदर प्रादुर्भाव होते ही विकार धुल जाते हैं।

जीवन में प्रेम नहीं, तो जीवन शून्य है; और जिस परिवार में प्रेम है, जिस दाम्पत्य जीवन में प्रेम है, वहाँ कितनी भी गरीबी आ जाए फिर भी स्वर्ग जैसा आनंद आता है।

यदि प्रेम नहीं है तो दोनों बेटे-भले ही अलग-अलग राज्य के राजा बन जाएँ, किंतु यदि एक-दूसरे के प्राणों को लेने में लगे रहें, तो वहाँ पर नरक तुल्य वातावरण होता है; जीवन का आनंद नहीं आता।

पहला घटक यही है कि जीवन में निष्काम और निःस्वार्थ प्रेम हो। जब प्रेम मलिन होता है, तो गंदे जल की तरह आत्मा को मलिन करता है। जब प्रेम की धारा विशाल हो जाती है, तो सागर की तरह जो भी उसमें आता है, वह भी निर्मल हो जाता है।

अब 'L' शब्द का दूसरा अर्थ है–Limitation (मर्यादा)। जीवन मर्यादित होना भी जरूरी है। जिस जीवन में कायदा और वायदा का ध्यान रखा जाता है, उस जीवन में फायदा ही फायदा होता है। इसको स्वीकार कर जो जीता है,

उसका जीवन कभी भी अशुद्ध नहीं कहलाता; निर्मल और प्रशंसनीय ही होता है। अतः जीवन के चार घटकों में पहली शर्त है—प्रेम या मर्यादा।

दूसरा अक्षर है **'I'–Intelligent (बुद्धिमत्ता)**

जीवन में बुद्धिमत्ता होनी चाहिए। यदि जीवन में ज्ञान नहीं है तो विवेकहीन जीवन जीवंत नहीं कहलाता। ज्ञान तो वह पूँजी है जिसके बिना व्यापार नहीं किया जा सकता। यदि जीवन को जीवंत बनाना है तो ज्ञान के प्राण तो फूँकने पड़ेंगे। बिना ज्ञान-प्राण के मनुष्य के पास कितनी भी भौतिक सम्पत्ति हो, उस सम्पत्ति से आज तक कुछ हुआ है क्या?

भौतिक सम्पत्ति तो दु:ख का ही कारण है। चक्रवर्ती के पास भी यदि ज्ञान नहीं है, तो वह षट्खण्ड का राजाधिराज होकर भी दु:खी हो सकता है। और किसी फकीर के पास तत्त्वज्ञान है, आत्मज्ञान है, तो संसार की कोई शक्ति उसे दु:खी नहीं कर सकती। सुख का कारण है—ज्ञान। आप पढ़ते हैं—

"ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।"

जब प्रेम के साथ ज्ञान होता है, तब नि:संदेह वह प्रेम विकृत नहीं हो सकता। वह प्रेम परमात्मा से मिलने का सेतु बन जाता है।

इसी प्रकार 'I' का दूसरा अर्थ निकालते हैं—

Ignore (उपेक्षा करना)

जीवन में अपेक्षा लेकर जीओगे तो जीवन बड़ा दुःखी रहेगा। लोग कहते हैं–अमुक-अमुक ने मुझे धोखा दे दिया, मेरी उम्मीदों को तोड़ दिया। जब व्यक्ति भगवान से भी अपेक्षा करता है, तो दुःखी होता है। इसलिए अपेक्षा नहीं उपेक्षा वृत्ति रखो। उपेक्षा से बढ़कर और कोई सुख नहीं हो सकता। जिसे कुछ भी नहीं चाहिए, उसे कौन दुःखी कर सकता है?

तीसरा अक्षर है **'F'–Freedom (स्वतंत्रता)**

यदि जीवन बंधा हुआ हो, कसा हुआ हो, गुलामी से युक्त हो, पराधीन हो–तब जीवन में जीवंतता का आनंद कैसे आएगा?

कहा भी गया है–

"पराधीन सपने सुख नाहीं,
कर विचार देखो मन माहीं।"

पराधीनता में कभी सुख नहीं है। पहले जमाने में व्यक्ति नौकरी करने से बचता था। वह कहता था–"मेरे घर में क्या कमी है, जो मैं किसी की नौकरी करूँ?" मैं तो छोटा ही सही, पर व्यापार करूँगा। किन्तु आज व्यक्ति को पराधीनता ही अच्छी लगने लगी है। यही तो हमारी भारतीय संस्कृति का ह्रास हुआ है।

लगभग 1920 के आसपास विदेशी सहिंता ने जब भारत की स्थिति को देखा, भारत को नियंत्रण करना कठिन है, तो सोचा कि भारतीय संस्कृति व संस्कारों को नष्ट करो। यदि

ऐसा नहीं किया तो हम भारत पर अपना अधिकार नहीं जमा पाएँगे। इसलिए उन्होंने अपनी नीति अपनाई—इनकी भाषा बदलो, इनकी संस्कृति बदलो, खान-पान बदलो, संस्कार बदलो, फिर देखो कैसे ये अपने चंगुल में फँस जाएँगे। और इस तरह धीरे-धीरे वे हम पर प्रभाव जमाने लगे।

महानुभाव! स्वतंत्रता व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वतंत्र रहो किंतु स्वच्छंद मत बनो। स्वतंत्रता का मतलब इतना है कि हमारा जीवन कायदे-कानून से चले। जीवन की कुछ संहिता होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि मनमानी करते जाओ।

'' जो व्यक्ति मनमानी करता है, उसे अन्याय सहना पड़ता है। जो व्यक्ति मनचाहा बोलता है, उसे अनचाहा सुनना पड़ता है।'' इस तोले भर की जीभ को हिलाने से पहले चार अंगुल के मस्तिष्क का उपयोग करो। जो बोलो, सोच-समझकर बोलो। अन्यथा पछताना पड़ेगा।

अतः जीवन में स्वतंत्रता तो हो, पर स्वच्छंदता नहीं होनी चाहिए। शरीर की स्वतंत्रता हो, वचन की स्वतंत्रता हो, मन के विचारों की स्वतंत्रता हो—किन्तु इन सबके साथ संयम और नियमों का पालन भी आवश्यक है।

एक व्यक्ति बीचों-बीच सड़क पर चल रहा था। तभी एक भारी वाहन ने हटने के लिए हॉर्न दिया। उस व्यक्ति ने कहा—"मैं स्वतंत्र भारत का स्वतंत्र नागरिक हूँ, मैं जहाँ चाहे वहाँ चलूँगा, मैं नहीं हटता। तब उस ट्रक वाले ने भी

कह दिया कि मैं भी स्वतंत्र भारत का नागरिक हूँ, मैं तेरे ऊपर चढ़ाऊँगा। तब एक बुजुर्ग व्यक्ति ने कहा–"हाँ, तुम स्वतंत्र भारत के स्वतंत्र नागरिक हो, पर स्वतंत्रता का अर्थ उच्छृंखलता नहीं होता।"

स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि हमारी स्वतंत्रता से दूसरे की स्वतंत्रता का हनन न हो, किसी को कष्ट न हो, और नियमों का पालन करते हुए चलें।

दूसरी अपेक्षा से 'F' अक्षर कहता है–

Forgive & Forget (माफ करना/भूल जाना)

जीवन में आपके संपर्क में आने वाले सभी व्यक्ति आपके अनुकूल ही हों–यह संभव नहीं। ऐसा कभी संभव नहीं है कि दिन ही दिन आते रहें अथवा रात ही रात आती रहे। सदैव एक ही ऋतु रहे अथवा शुक्ल पक्ष ही चलता रहे, ऐसा भी संभव नहीं है। संसार रूपी रथ सुख-दुःख के दोनों पहियों से चलता है।

महानुभाव! हमारा जीवन हमारा ही है, किन्तु केवल हमारी शर्तों से नहीं चल सकता। जीवन जीने के लिए सामने आने वाली हर परिस्थिति को स्वीकार करना पड़ता है। कभी सामने वाला हमारे साथ अच्छा व्यवहार करेगा, कभी बुरा भी। अच्छा व्यवहार हमारे लिए प्रसन्नता का, विशुद्धि का कारण बनता है, और बुरा व्यवहार दुःख, चिंता, क्रोध, भय, अवसाद आदि अनेक प्रकार के मानसिक विकारों को उत्पन्न करता है।

किसी ने दुर्व्यवहार किया–30 सेकंड में ही ऐ शब्द कहकर चल दिया, अब हमारी मूर्खता तो देखो, हम उसे 30 मिनट, 30 घंटे, 30 दिन या 30 वर्ष तक भी नहीं भूल पाते। इसलिए आचार्य महाराज कहते हैं, ऐसी मूर्खता मत करो। यदि शांति चाहिए तो Forgive अर्थात् उसे क्षमा करो अथवा (Forget) उसे भूल जाओ। जिसे तुम क्षमा नहीं कर सकते, उसे भूल जाओ; और जिसे भूल नहीं सकते, उसे क्षमा कर दो। इसके बिना जीवन में शांति नहीं मिल सकती।

अगला अक्षर 'E' है, जिसके मायने हैं–**Equanimity (समत्व भाव)**

पक्षपात से रहित होकर समत्वभाव से युक्त जीवन ही सदा स्मरणीय रहता है। अन्यथा यह अच्छा है, वह बुरा है, ऐसा करते हुए अनन्त जीवन निकल जाएँगे, किन्तु हम जीवन के वास्तविक तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाएँगे। यदि हमने समत्वभाव को जागृत कर लिया, तो कोई हमारा बाल भी बाँका नहीं कर सकता और कोई हमारी आत्मा की निधि को हमसे छीन नहीं सकता। समत्वभाव में स्थित व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होता। दूसरी अपेक्षा से 'E' अक्षर का अर्थ है–

Etiquette (शिष्टाचार)–जीवन में शिष्टाचार होना अनिवार्य है, क्योंकि यही उसके चरित्र और संस्कारों का वास्तविक परिचय देता है। शिष्ट आचरण से व्यक्ति समाज में सम्मान, विश्वास और स्नेह प्राप्त करता है। ऐसा जीवन

संबंधों को मधुर बनाता है और संघर्षों को भी सहजता में सुलझाने की क्षमता देता है। अतः शिष्टाचार युक्त जीवन ही सच्चे अर्थों में सफल और आदर्श जीवन का आधार बनता है।

इस प्रकार ये चार घटक जिसके जीवन में आ जाते हैं–प्रेम, ज्ञान, स्वतंत्रता, समत्व भाव अथवा मर्यादा, उपेक्षावृत्ति, क्षमा करना या भूल जाना और शिष्टाचार। यदि इन घटकों को हम अपने जीवन में स्थान दे दें, तो निस्संदेह हम अपने जीवन को सुचारु रूप से मैनेज कर पाएँगे।

यदि व्यक्ति अपने जीवन को ही व्यवस्थित नहीं कर सकता, तो वह अन्य कार्यों को भी व्यवस्थित नहीं कर पाएगा।

हमारे जीवन में ऊपर बताए गए चार तत्त्व अनंतचतुष्टय की तरह से हैं। इसके लिए हमें चार पुरुषार्थों की आवश्यकता है। यदि चार कषायों या चतुर्गति से बचना है तो ये चार चीजें बहुत ही आवश्यक हैं। जिस प्रकार किसी किले या दुर्ग की सुरक्षा के लिए चारों दिशाओं में प्रहरी रखे जाते हैं, उसी प्रकार जीवन की रक्षा के लिए भी चार प्रकार के गुणों की आवश्यकता होती है।

यदि हमारे जीवन में कभी प्रेम की न्यूनता व शून्यता न आए, ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित रहे, स्वतंत्रता संयमित रहे और शिष्टाचार का पालन होता रहे–तो जीवन सदैव सुरक्षित और संतुलित बना रहता है।

आपने देखा होगा कि राजा के महलों की सुरक्षा के लिए चारों दिशाओं में प्रहरी खड़े रहते थे। किले के चारों द्वारों पर पहरेदार तैनात रहते थे। प्रत्येक पहरेदार के हाथ में तलवार रहती थी। यदि कोई शत्रु सामने से, पीछे से, दाएँ से या बाएँ से–किसी भी दिशा से आक्रमण करे, तो वे तुरंत उसका सामना कर सकें।

इसी प्रकार हमारे जीवन की रक्षा के लिए भी सजगता आवश्यक है। हमारी आत्मा पर दसों दिशाओं से आक्रमण हो सकते हैं। यदि हम सावधान न रहें, तो जीवन में अनेक प्रकार की विपत्तियाँ आ सकती हैं। इसलिए हमें दसों दिशाओं से आने वाले विकारों के प्रति सजग रहना चाहिए। जब हम अपने जीवन को इस प्रकार सुरक्षित रखते हैं, तब हमारा जीवन संतुलित और सुरक्षित बना रहता है।

अपने जीवन की रक्षा के लिए चारों ओर से सावधानी रखना ही Management (प्रबंधन) है। संक्षेप में कहें तो MANAGEMENT शब्द में दस अक्षर हैं। ये दस अक्षर हमारे जीवन के चारों घटकों को व्यवस्थित करने वाले सूत्र हैं। यही दस अक्षर हमारे जीवन को व्यवस्थित करने का मार्ग बताते हैं।

प्रथम 'M' अक्षर कहता है–यदि जीवन को सफल बनाना है तो तुम्हारा जीवन **Meaningful (अर्थपूर्ण)** होना चाहिए।

अर्थपूर्ण जीवन वही है जिसमें व्यक्ति का जीवन किसी उद्देश्य से जुड़ा हुआ हो। बिना उद्देश्य के जीवन जीना ऐसा

है जैसे कोई व्यक्ति बिना दिशा के चल रहा हो। वह चलता तो रहता है, परंतु पहुँच कहीं नहीं पाता।

आज के इस युग में साधन तो बहुत हैं, परंतु उद्देश्य बहुत कम दिखाई देता है। यदि कोई व्यक्ति सौ वर्ष तक भी जी ले, किन्तु उसका जीवन उद्देश्यहीन रहा, तो उसका जीवन व्यर्थ ही समझा जाएगा। इसलिए हमारा जीवन तभी सफल होगा जब जीवन के प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई श्रेष्ठ उद्देश्य होगा।

दूसरा अक्षर–'A'–**Adoration (आराधना/भक्ति)**

अर्थपूर्ण जीवन के लिए यह आवश्यक है कि आपके जीवन में भक्ति, पूजा और वंदना का स्थान हो। यदि आपका जीवन वास्तव में जीवंत है, तो अवश्य ही किसी न किसी प्रभु-परमात्मा के प्रति आपकी श्रद्धा होगी। जब मनुष्य की आत्मा से निकली हुई पुकार परमात्मा तक पहुँचती है, तभी जीवन में शांति का अनुभव होता है।

यदि जीवन में परमात्मा के प्रति श्रद्धा नहीं है, तो जीवन में कुछ भी स्थायी नहीं रहता। यदि आपने केवल यह सोच लिया कि "मैं ऐसा करूँगा, वैसा करूँगा", तो ध्यान रखना–बिना आराध्य के कोई भी आराधक आराधना नहीं कर सकता। आचार्य भगवन् अजितसेन सूरि ने लिखा है कि बिना पूजा के कोई पूज्य नहीं होता। इसलिए प्रभु की पूजा और वंदना जीवन में बहुत आवश्यक है।

जितनी अंतरंग में भक्ति जागेगी, जितना श्रद्धा का परिणाम होगा, उतना ही मनुष्य अपने लक्ष्य के समीप पहुँच सकेगा।

केवल परिश्रम करने से ही लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। एक मजदूर सुबह से शाम तक मेहनत करता है, एक दुकानदार सुबह से शाम तक दुकान में बैठा रहता है, फिर भी वह धनवान नहीं बन पाता। इसके लिए पुण्य भी चाहिए, और वह पुण्य भक्ति और आराधना से प्राप्त होता है।

तीसरा अक्षर–'N'– **Naturality (स्वाभाविकता)**

जीवन बनावटी नहीं होना चाहिए। जब जीवन में बनावट, दिखावट और सजावट अधिक हो जाती है, तब जीवन में कड़वाहट और गिरावट आने लगती है। ऐसा जीवन धीरे-धीरे असहज हो जाता है।

जब जीवन में स्वाभाविक सहजता होगी, तब निःसंदेह जीवन आनंद से भर जाएगा। इसलिए प्रकृतिस्थ रहिए; अपनी प्रकृति को मत छोड़िए। अपनी प्रकृति को पहचानिए। मनुष्य की प्रकृति क्या है?–क्षमा, सरलता, सहजता और विनम्रता।

यदि जीवन में इन गुणों को धारण कर लिया जाए तो जीवन सचमुच जीने योग्य बन जाता है। परंतु यदि छोटी-छोटी बातों पर क्रोध करते रहेंगे, तो जीवन का संतुलन बिगड़ जाएगा। फिर जीवन में ऊँचाईयों को कभी छू न पाओगे, इसलिए प्रयास यही होना चाहिए कि हम

सहज और स्वाभाविक जीवन जिएँ। अगला अक्षर है 'A'

Advice (सलाह)–हमारा जीवन सम्पूर्ण नहीं है, इसलिए हमें जीवन में दूसरे की सलाह की भी आवश्यकता है। यूँ तो भारत में बिना माँगे भी सलाह देने वाले बहुत हैं, कमी नहीं है। यह ध्यान रखना कि मौके पर अच्छी सलाह देने वाले नहीं मिल पाते। और व्यक्ति अच्छी सलाह लेने में अपनी तौहीन मानता है। जो व्यक्ति अपने जीवन की अभिवृद्धि करना चाहता है, उसे संकोच नहीं करना चाहिए। अच्छी सलाह लेने में भी संकोच नहीं, और अच्छी सलाह देने में भी संकोच नहीं। सही सलाह भी जीवन में भली राह 'सुराह' दिखाने वाली होती है। इसके आगे चलते हैं–'G'

Grateful (कृतज्ञता)–'G' अक्षर आपके जीवन में यह कह रहा है–कृतज्ञ बनो। संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं–एक कृतघ्न, दूसरे कृतज्ञ। कृतघ्न वह होता है जो अपने उपकारी का उपकार न माने, और कृतज्ञ वह होता है जो सदैव अपने उपकारी का उपकार याद रखे। अपने जीवन को अर्थ युक्त बनाने के लिए, जीवन में कृतज्ञता-भाव धारण करो।

''न हि कृतमुपकारं साध्वा विस्मरन्ति।''

साधुपुरुष अपने जीवन में किए गए उपकारों को कभी भूलते नहीं हैं। अगला अक्षर है–'E'

Economic (अर्थव्यवस्था)–जीवन को व्यवस्थित रूप से संचालन करने के लिए अर्थव्यवस्था भी आवश्यक है। केवल बातों से जीवन नहीं चलेगा। गृहस्थ के लिए अर्थ

का प्रबंधन बहुत आवश्यक है। अर्थ के बिना जीवन व्यर्थ, निरर्थक भी बन सकता है। आचार्यों ने कहा कि अनर्थदण्ड का त्याग करो, आपके पास जो कुछ भी चीज है उसे सार्थक और विकसित करो। किन्तु वह धन कैसे आए, कितना आए, उसका व्यय कहाँ करें, कब करें, कैसे करें–यह भी विचारणीय है। इस प्रकार अर्थ का संतुलन भी जीवन की जीवंतता में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आगे अक्षर आता है–'M'

Morality (नैतिकता)–यदि जीवन में नैतिकता है, तो बहुत सम्पत्ति का अर्जन करो; परन्तु कभी अनैतिकता का सहारा मत लो। नैतिक मूल्यों का सही मूल्यांकन करना सीखो। जो व्यक्ति नैतिक जीवन जी रहा है, उसे तुच्छ, हीन और किंकर मत मानो, अपितु उसे ऊँची दृष्टि से देखो। जो व्यक्ति नैतिक मूल्यों के लिए अपने जीवन की आहुति देने को तैयार हो जाता है, ऐसा व्यक्ति वास्तव में भविष्य का परमात्मा हो सकता है। अगला अक्षर है–'E'

Enthusiasm (उत्साह)–जीवन में यदि उत्साह नहीं है, तो उत्साहहीन जीवन मुर्दे की भाँति है। जो व्यक्ति मुँह लटकाकर बैठ गया, उसके पास कोई बैठना नहीं चाहता। चेहरा प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। चेहरे पर तेज, ओज और स्फूर्ति होना चाहिए। प्रसन्नता जीवन की जीवंतता की द्योतक होती है।

"उदासी जिन चेहरों का शृंगार करती है, मक्खी

भी उस पर बैठने से इंकार करती है।"

जीवन में कोई भी काम करो तो उत्साहपूर्वक करो। मन लगाकर, पूरी लगन से करो। मन लगाकर छोटा सा कार्य भी सफलता देगा अन्यथा नकारात्मकता बड़े से बड़े काम को भी असफल कर देगी। किसी भी काम को करते समय यदि यह सोच लो कि यह नहीं होगा, तो सफलता का मार्ग स्वयं ही रुक जाएगा।

यदि किसी भी कार्य को निगेटिविटी (Negativity) के साथ किया जाएगा तो उसका परिणाम भी वैसा ही होगा। इसके विपरीत यदि उत्साहपूर्वक कार्य किया जाए तो साधारण व्यक्ति भी बड़ी-बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि एक सामान्य व्यक्ति, जो पहले किसी कंपनी में कर्मचारी के रूप में कार्य करता है, वही आगे चलकर उसी कंपनी का मालिक भी बन जाता है। यदि उत्साहपूर्वक कार्य किया जाए तो एक मोची भी 'Bata' कम्पनी का मालिक बन सकता है। लोहे का काम करने वाला भी 'Tata' कम्पनी का मालिक बन सकता है। इसका कारण यही है कि उसने अपने जीवन में उत्साह, परिश्रम और विश्वास को बनाए रखा।

महानुभाव! संसार में कोई भी काम कठिन नहीं है; केवल हमारे भीतर विश्वास, उत्साह और लगन होना चाहिए। इन्हीं के आधार पर व्यक्ति बड़ी-बड़ी सफलताएँ

प्राप्त कर सकता है।

शरीर में ऐसा कोई भी रोग नहीं है जिसकी औषधि हमारे ही शरीर में न हो। प्रत्येक रोग की औषधि हमारे शरीर में है। कुत्ते को जब घाव हो जाता है, तो वह जीभ से चाट-चाटकर ही उसे ठीक कर लेता है। हमारे शरीर में अनेक प्रकार के हार्मोन (Hormones) होते हैं। जब व्यक्ति उत्साह और प्रसन्नता के साथ कार्य करता है, तो शरीर में सकारात्मक परिवर्तन होते हैं। इसके विपरीत जब व्यक्ति निराश और नकारात्मक विचारों में डूब जाता है, तो उसका प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है।

महानुभाव! जब हमारे मन में नकारात्मकता (Negativity) आ जाती है, तो उसे सुधारने में बहुत समय लग जाता है। कभी-कभी तो व्यक्ति अपनी नकारात्मक सोच के कारण अपनी ही आयु को कम कर लेता है।

एक बार एक महिला डॉक्टर के पास गई। उसने कहा–"डॉक्टर साहब! मेरे पेट में केंसर है।" डॉक्टर ने जाँच की और कहा–"ऐसी कोई बात नहीं है।"

फिर भी वह महिला बार-बार यही कहती रही कि उसे केंसर है। डॉक्टर ने पूछा–आप ऐसा क्यों कह रही हैं? वह बोली–"मेरी नानी 46 वर्ष की आयु में केंसर से मरी थीं, मेरी माँ भी लगभग 48 वर्ष की आयु में केंसर से मरी थीं, इसलिए अब मैं भी 40 वर्ष की हो गई हूँ और मुझे भी केंसर होगा। मैं भी केंसर से मर जाऊँगी।"

डॉक्टर ने समझाया–"तुम्हें कोई बीमारी नहीं है, अपने विचारों को बदलो।" किन्तु वह अपने विचार नहीं बदल सकी। वास्तव में जब वह 43-44 वर्ष की हुई, तो उसे सचमुच केंसर हो गया और अंततः उसकी मृत्यु हो गई।

कई बार रोग शरीर में बाद में आता है, परंतु रोग का भय पहले ही मन में जन्म ले लेता है। जब मन में भय और नकारात्मकता भर जाती है, तो व्यक्ति का जीवन धीरे-धीरे उसी दिशा में जाने लगता है। किसान खेत में काम करता है। छोटा-मोटा बुखार, जुकाम की तो वह परवाह ही नहीं करता। पसीना आया सब रोग दूर भाग गया। किंतु शहरों में रहने वाला व्यक्ति छोटी सी बीमारी भी झेल नहीं पाता, डॉक्टर व अस्पताल के चक्कर लगाने लगता है।

इसलिए कहा गया है कि जब व्यक्ति बार-बार किसी बात को सोचता रहता है, तो वही बात उसके जीवन में प्रभाव डालने लगती है।

महानुभाव! जब व्यक्ति स्वयं को कमजोर मान लेता है, तब उसकी शक्ति भी कम होने लगती है। जब व्यक्ति care करता है तो बीमारी और बढ़ेगी और जो व्यक्ति यह सोचता है–"मुझे कुछ नहीं होगा", उसके भीतर एक अलग प्रकार का आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है।

जब तक हम स्वयं मरना नहीं चाहते, तब तक संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो हमें मार सके। और जब तक हम रोगी होना नहीं चाहते, तब तक संसार में ऐसा कोई रोग नहीं है जो हमें पकड़ सके।

अक्सर रोग पहले विचारों में जन्म लेते हैं, उसके बाद शरीर में दिखाई देते हैं। इसलिए हमें अपने विचारों को सकारात्मक रखना चाहिए। आगे अक्षर है 'N'–

Non-Violence (अहिंसा)–वास्तव में यदि जीवन सार्थक बनाना है तो अहिंसा अत्यन्त आवश्यक है। जीवन सार्थक तभी हो सकता है जब ''जीओ और जीने दो'' का भाव हो। यदि हम अकेले ही जीना चाहेंगे और दूसरों को जीने का अवसर नहीं देंगे, तो सुखी जीवन जीने में अनेक बाधाएँ आएँगी। अतः अहिंसा का पालन करना आवश्यक है। अंतिम अक्षर है 'T'

Tolerance Power (सहनशक्ति)–अपनी सहनशक्ति को बढ़ाओ। पहले एक परिवार में 10–12–15–20 सदस्य भी एक साथ रहते थे, तब भी किसी प्रकार की बड़ी समस्या नहीं होती थी। एक चूल्हे पर सबका भोजन बन जाता था, क्योंकि पहले लोगों की सहनशक्ति बहुत अधिक होती थी।

बड़ों ने कहा तो छोटों ने सुन लिया, छोटों ने निवेदन किया तो बड़ों ने उनकी बात मान ली। और थोड़ी देर बाद सब सामान्य हो जाते थे। पर आज स्थिति बदल गई है। आज छोटी–सी बात भी बड़ा विवाद बन जाती है।

मुश्किल तो ये है कि जिस लड़के ने अपनी पसंद की लड़की से शादी की, जिसे आपकी भाषा में कहें–'love marriage' वह प्रेम विवाह भी आजकल टिक नहीं पा रहा। विवाह के बाद पति–पत्नी दोनों ही एक–दूसरे की

बात सहन नहीं कर पाते। थोड़े ही समय में उनके बीच दूरी आ जाती है। वह पुत्र जिसे माता-पिता ने पाल-पोसकर बड़ा किया, वही कभी-कभी माता-पिता की भावना को भी समझ नहीं पाता। सहनशक्ति की कमी से ही अनेक पारिवारिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

सहनशक्ति घटने का एक कारण यह भी माना जाता है कि हमारी जीवन-शैली बदल गई है। सहनशक्ति घटाने का एक काड़ा है जिसे भारत में लगभग सौ वर्ष पहले लाया गया। वह काड़ा है 'चाय'। पहले हमारे समाज में चाय पीने की परंपरा नहीं थी। अंग्रेजों के आने के बाद चाय पीने की आदत बढ़ी। और धीरे-धीरे ये आदत इतनी गहरी हो गई कि आज अनेक लोगों के लिए यह आवश्यकता नहीं, बल्कि व्यसन का रूप ले चुकी है। भारत में पहले मठा (छाछ) पीया जाता था, जो वास्तव में एक औषधि के समान है। ''**तक्रं शक्रं दुर्लभं**'' तक्र अर्थात् मट्ठा तो इन्द्र के लिए भी दुर्लभ है। जो यहाँ मनुष्यों को प्राप्त होता है। इसी संदर्भ में किसी कवि ने कहा है-

मट्ठा में गुण बहुत हैं, सदा कीजिये पान।
दीन गरीबन के लिए, है पीयूष समान।।
है पीयूष समान, मिलाकर नमक मिर्च जीरा।
करे अजीरन दूर, हरे यह तन की पीरा।।
कहें गिरधर कविराय, रहे वे हट्ठा-कट्ठा।
जो नित उठकर पीयें, भैंस का ताजा मट्ठा।।

किंतु आज भारतीयों ने भी आज चाय पीना शुरू कर दिया है। बार-बार चाय पीने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप व्यक्ति में अधैर्य, चंचलता, चिड़चिड़ापन तथा छोटी-छोटी बातों पर क्रोध की प्रवृति बढ़ने लगती है। एक छोटा बालक भी कहते सुना है–"मम्मी! आप शांत हो जाओ, मुझे टेंशन हो रहा है, मैं सहन नहीं कर सकता।" इससे बच्चों की सहनशक्ति और मानसिक स्थिरता भी प्रभावित हो सकती है।

महानुभाव! हमें अपना जीवन Manage करना है–Life Management के इन सूत्रों को स्मरण रखें, अपने जीवन में अपनाएँ तो आपका जीवन सुरक्षित रहेगा, व्यवस्थित रहेगा, आनंद से युक्त रहेगा।

आपके जीवन रूपी क्षितिज पर नव-नव इन्द्रधनुष दिखाई देंगे, जो आपको आनंद से भर देंगे। आपका जीवन भी गम्भीर महासागर की तरह रत्नों का भण्डार बन जाएगा। यदि आप इन दस बातों का ध्यान रखेंगे, तो जीवन सचमुच सफल हो जाएगा। आज बस इतना ही पर्याप्त है।

॥श्री शांतिनाथ भगवान की जय॥

गुरु का महत्त्व

महानुभाव! कई बार जीवन में एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि मार्ग तय करने वाला मार्गी होता है, पथिक ही पथ पर चलकर मंजिल तक पहुँच पाता है। जब राहगीर को ही रास्ता चलना है, उसी को मंजिल प्राप्त करनी है, तो जीवन में अन्य किसी दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता क्यों? गुरु आदि का जीवन में महत्त्व क्या है?

काम जिसे करना है, वह काम कर रहा है। कोई पथिक पथ पर चलता हुआ अपनी मंजिल तक पहुँचता है। किसी दूसरे व्यक्ति ने उसके लिए क्या किया?

लोग कहते हैं–'गुरु का जीवन में बहुत महत्त्व है।' कोई कहता है–'गुरु के बिना जीवन अधूरा है।' कोई कहता है–'जिसका कोई गुरु नहीं, उसका जीवन शुरू नहीं।' कोई कहता है–गुरु तो चेतना के प्राण हैं। किसी आचार्य ने लिखा है कि गुरु माता-पिता की तरह होते हैं। कहा गया है–

"गर्भाधानक्रियामात्रन्यूनौ हि पितरौ गुरुः"॥59/2 लम्ब (क्ष.चू.)

अर्थात् गर्भाधान की क्रिया से रहित अन्य जो जीवन में उपकार होता है, वह सब गुरु का होता है। कोई गुरु को बन्धु कहते हैं तो कोई सखा कहते हैं, कोई भगवान कहते

हैं। सभी अलग–अलग प्रकार से गुरु के लिए हृदय से संबोधन प्रस्तुत करते हैं।

वास्तव में ऐसा गुरु का कोई महत्त्व है क्या? यह बात समझ में नहीं आती। राहगीर को राह चलनी है, मंजिल तक पहुँचना है; काम करने वाले को काम करना है, कुम्हार ने मिट्टी से कलश बनाया–कलश तो मिट्टी से बना; कुम्हार ने क्या किया? महिला ने आटे से रोटी बनाई–आटा रोटी बना; महिला ने क्या किया?

जो व्यक्ति अपने जीवन को केवल एकांगी समझते हैं, उपादान मात्र से जीवन यात्रा पूर्ण करना चाहते हैं, उनके जीवन की व्याख्याएँ ऐसी ही होती हैं। किन्तु जो जैनदर्शन में स्याद्वाद नय को समझते हैं, वे जानते हैं कि संसार में ऐसी कोई गाड़ी नहीं है, वाहन नहीं है जो एक पहिये से चलता हो। दो पहिये तो कम से कम होने ही चाहिए।

दो पहियों से चलने वाले रथ का नाम है–निमित्त और उपादान। संसार का प्रत्येक कार्य, चाहे आन्तरिक कार्य हो अथवा बाह्य कार्य हो, निश्चय का हो अथवा व्यवहार का हो–कोई भी कार्य इन दो के बिना पूरा नहीं हो सकता।

महानुभाव! संसार की वृद्धि भी दो से है, तो संसार का क्षय भी दो से है। दो की अनिवार्यता तो सब जगह है। कर्म का बंध भी दो से है, तो कर्म का नाश भी दो से है। निमित्त और उपादान ये दो होते हैं। कुम्हार आदि निमित्त हैं, मिट्टी उपादान है। मिट्टी में कलश बनने की सामर्थ्य तो है, किन्तु कुम्हार के निमित्त से। मिट्टी अपने आप घट

नहीं बन सकती। पाषाण में मूर्ति बनने की सामर्थ्य तो है, किन्तु हजारों साल से पड़ा हुआ है, वह स्वयं मूर्ति नहीं बन सकता।

खेत में फसल देने की, बीज उगाने की शक्ति है। कृषक खेत का कर्षण करता है, बीज का वपन करता है, सिंचाई-निराई-गुड़ाई आदि करता है, तब फसल प्राप्त होती है।

एक किसान अपने गाँव से बाजार की ओर जा रहा था। उस समय साधन कम थे, प्रायः लोग पैदल यात्रा करते थे। ग्रीष्मकाल का समय था। बीच-बीच में जंगल का रास्ता पड़ता था। वैसे एक राजमार्ग भी था, किन्तु जंगल वाला रास्ता short था। वह वहीं से निकल कर जा रहा था। वह किसान सिर पर अनाज की पोटली रखकर सोचता चला जा रहा था कि सप्ताह भर का सामान ले आऊँगा। वह गहरे विचारों में चलता जा रहा था।

जब व्यक्ति बहुत सोचता चला जाता है, तब उसे यह सावधानी नहीं रहती कि मेरा पैर कहाँ पड़ रहा है। पैर के नीचे कोई जीव आ गया या कोई काँटा आ गया—यदि व्यक्ति विचारों में डूबा हुआ रहता है, तो उसका शरीर संस्कारवशात् चला जाता है, पर उपयोग कहीं और लगा रहता है। वह किसान भी जा रहा था कि अचानक ठोकर लगी और मुँह के बल गिर पड़ा। अनाज की पोटली दूर गिर गई। उसके शरीर में चोट भी आ गई। किसी प्रकार वह कराहते हुए घर पहुँचा। उसने अनाज को बेचा और जो

आवश्यक वस्तुएँ थीं, वह खरीद लाया। उसने सोचा–अभी तक तो मैं अपनी औषधि–दवा भी घरेलू उपायों से ही करता रहा हूँ। जड़ी–बूटियों का लेप बनाकर लगा लिया अथवा पत्तों आदि का रस निचोड़कर लगा लिया। परन्तु इस बार घाव बड़ा था। उसने कहा–"मैं डॉक्टर को दिखा देता हूँ।" वह गया। डॉक्टर ने मलहम दिया और कहा–"गरम पानी से साफ करके यह मलहम लगा लेना।"

डॉक्टर ने जैसा कहा, वैसा ही उसने किया। वह घर लौटकर आया। उसने जहाँ चोट लगी थी उस स्थान को गरम पानी से साफ किया और मलहम लगाया। ऐसा करते–करते दो–चार दिन हो गए, परन्तु घाव ठीक नहीं हुआ, उसका पैर पक गया। दर्द बढ़ गया। जैसे–तैसे फिर डॉक्टर के पास पहुँचा और उलाहना देने लगा। बोला– "आप हम किसानों के धन को क्या समझते हैं? हमारा धन ऐसा वैसा नहीं है। हम इतना पसीना बहाते हैं, हमारी मेहनत की कमाई है। आपने कैसी दवाई दी? मेरा घाव तो ठीक ही नहीं हुआ। मैंने पूरी दवा लगा ली, किन्तु मेरा दर्द बढ़ता चला जा रहा है। ऐसा लगता है कि प्राण निकलते जा रहे हैं।

डॉक्टर ने कहा–"आपने दवा लगाई थी? हाँ लगाई थी। जैसे हमने कहा वैसे लगाई थी? हाँ, उसी विधि से लगाई थी। आपने कहा था गरम पानी से साफ करके लगाना है, वैसे ही लगाई है।

डॉक्टर ने कहा–"अगर धोया था तो फिर आपके घाव

पर यह मिट्टी क्यों लगी है?"

वह बोला–"इसको थोड़े ही धोया, तो फिर किसको धोया?" "डॉक्टर साहब! जिस पत्थर से मुझे ठोकर लगी थी, उसी पत्थर को मैंने गरम पानी से धोकर वहीं दवाई लगाई थी"

महानुभाव! यह किस किसान के घाव की बात है। मैं नहीं जानता। किंतु ये गलतियाँ अक्सर इंसान से होती हैं। जैसे डॉक्टर की सलाह थी–जहाँ चोट हो, वहीं दवा लगानी चाहिए। यदि कहीं और दवा लगाओगे तो नया घाव तैयार हो जाएगा। किन्तु उसने समझ लिया कि जिस पत्थर से ठोकर लगी, उसी पत्थर पर दवा लगाने से चोट ठीक हो जाएगी।

जीवन में गुरु का यही महत्त्व होता है कि वे हमें बताते हैं कि औषधि का प्रयोग कहाँ करना है। जिनेंद्र प्रभु की भक्ति एक औषधि है। इस औषधि को केवल बाहर से राम चदरिया की तरह ओढ़ना नहीं है अपितु चिरायते के काढ़े की तरह पी जाना है। भगवान की भक्ति केवल वचनों से नहीं करनी है अपितु आत्मा की वीणा बजाकर इसे उत्पन्न करना है। केवल बाह्य प्रदर्शन से काम नहीं चलता। गुरु यही बताते हैं कि बाहर से चाहे कितनी भी भक्ति करते चले जाओ, उससे हो सकता है बाहर का धन-वैभव मिल जाए, किन्तु आत्मा का वैभव नहीं मिलेगा।

यदि आपने शरीर से भगवान की भक्ति, पूजार्चना की

है, तो आपको निरोगी शरीर मिल सकता है, कामदेव जैसा सुंदर शरीर प्राप्त हो सकता है। वचनों से भगवान की भक्ति की है तो अच्छे वचन मिल सकते हैं। आपका श्रुतज्ञान बढ़ा हो सकता है, आप श्रुतकेवली भी बन सकते हैं। आपकी सोचने की सामर्थ्य अच्छी हो सकती है। किन्तु जब तक भक्ति की झंकार आत्मा से नहीं निकलेगी, तब तक आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती।

महानुभाव! भक्ति हृदय से प्रसूत एक विशेष क्रिया है। बाहर के वचनों से उसे कहा नहीं जा सकता। जब अंदर से भक्ति प्रकट होती है, तो वह भक्ति निःसन्देह आत्मा में बदलाव लाती है। जैसे शीतलता बाहर से डाली नहीं जाती, वह स्वाभाविक होती है। पुष्प में गंध बाहर से डाली नहीं जाती, वह स्वाभाविक होती है। गुड़ में मिठास ऊपर से मिलाकर नहीं डाली जाती, वह स्वयं होती है। ऐसे ही परमात्मा-दशा हमारी स्वाभाविक अवस्था है। उसे प्रकट करना है।

बाहर से परमात्मा बनाया नहीं जा सकता। बाहर का वैभव प्राप्त करके राजा बन सकते हैं, महाराजा, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, अर्द्धचक्री, चक्री बन सकते हैं, किन्तु हम परमात्मा नहीं बन सकते। परमात्मा बनने के लिए अपनी परम-उत्कृष्ट अवस्था को प्रकट करना ही पड़ेगा।

महानुभाव! उस आत्मा का जीवन में मार्गदर्शन करने वाले होते हैं—गुरु। गुरु मार्गदर्शक बनते हैं। वे आपको हाथ पकड़कर नहीं चलाते, परन्तु यह बताते हैं कि किस मार्ग

पर चलना है। संसार का कोई भी गुरु आपको भगवान नहीं बना सकता; चलना आपको ही पड़ेगा। गुरु तो इतना बता सकते हैं कि यह काँटों वाला रास्ता है, यहाँ से नहीं, वहाँ से चलना है। जो मार्ग आपको सुगम दिखाई दे रहा है, वह दुःख का कारण है; और जो दुर्गम दिखाई दे रहा है, वही सुख का कारण है–यह गुरु बताते हैं। जहाँ आपको अँधेरा दिखाई दे रहा है, वहीं पर प्रकाश है और जहाँ आपको प्रकाश दिखाई दे रहा है, वह प्रकाश नहीं–भ्रम भी हो सकता है। जहाँ जल है, वहाँ आपको जल दिखाई नहीं दे रहा और जहाँ मृगमरीचिका बालू पड़ी है, वहाँ आपको जल दिखाई दे रहा है।

यह भेद विज्ञान कराने वाले होते हैं–'गुरु'। गुरु बताते हैं कि जिसे आप अपना स्वरूप मान रहे हो, वह तुम नहीं हो–यह तो शरीर है। ऐसे शरीर अनंत बार प्राप्त किए, किन्तु तुम तो शाश्वत आत्मा हो, चेतना हो, तुम इसे क्यों भूल जाते हो। यह शरीर तो कुछ वर्षों के लिए प्राप्त हुआ है। जितना आयु कर्म है, उतना ही शरीर रहेगा। शरीर के लिए जो करोगे तो वह यहीं रह जाएगा; आत्मा के लिए जो कुछ करोगे, वह ही साथ जाएगा। इस प्रकार ज्ञान कराने वाले होते हैं गुरु। चिरनिद्रा में सोए हुए जीव को जगाने वाले होते हैं गुरु।

एक मिल का मालिक था। उसकी बहुत बड़ी मिल चलती थी। उसमें कई automatic मशीनें भी थीं। उससे वह धन भी बहुत कमाता था। यदि मिल एक दिन भी बंद

हो जाए, तो हजारों-लाखों रुपयों का नुकसान हो जाता। एकदिन अचानक मशीन चलते-चलते बंद हो गई। जितने भी आस-पास के इंजीनियर थे उन्हें बुलाया गया, किन्तु वे उसे ठीक नहीं कर सके। तभी वहाँ से एक व्यक्ति गुजर रहा था। मिल के पास पहुँचकर उसने पूछा-

"सेठजी! उदास क्यों बैठे हो?"

सेठ ने कहा-"मशीन खराब हो गई है। प्रतिदिन हजारों रुपयों का नुकसान हो रहा है।"

वह व्यक्ति बोला-"यदि मुझे दिखाओ, तो मैं इसे ठीक कर दूँ?"

सेठ ने पूछा-"क्या तुम मैकेनिक हो?"

उसने कहा-"मैं मैकेनिक तो नहीं हूँ, किन्तु एक बार मुझे इसे देखने दीजिए। अगर मैंने इसे ठीक कर दिया, तो क्या दोगे?"

सेठ ने कहा-"यदि तुम मशीन ठीक कर दोगे तो मैं तुम्हें पचास हजार रुपये दूँगा।"

उस व्यक्ति ने मशीन का सूक्ष्म अवलोकन किया और बोला-"सेठजी! मशीन में सब ठीक-ठाक है, कहीं टूट-फूट नहीं है; बस जहाँ कीली घूमती है, वहाँ छेद है।''

उसमें एक लोहे का सर्कल फँस गया, जिसकी वजह से मशीन चलना बंद हो गई। उसने एक छोटी-सी हथौड़ी ली और पाँच-सात चोट मारी-मशीन चल गई।

वह मालिक से बोला–''सेठ जी! दीजिए मेरे 50,000 रुपये।"

सेठ ने आश्चर्य से कहा–"किस बात के पचास हजार? तुमने ऐसा कौन सा बड़ा कार्य कर दिया? कोई नया पुर्जा तो लगाया नहीं। बस, तीन-चार चोट ही तो मारी हैं।

वह बोला–"तो आप खुद ही मार लेते। तीन-चार दिन से परेशान क्यों हो रहे थे?"

सेठजी ने कहा–पचास हजार तो क्या मैं तुम्हें पाँच हजार भी नहीं दूँगा, इस चार-पाँच चोट मारने के। दो-पाँच रुपये लेने हैं तो ले ले। वह बोला–सेठजी! मैंने तीन-चार चोट ही तो मारी हैं; क्या करूँगा दो-पाँच रुपये लेकर? अब आप मुझे तीन चोट मारने की इजाजत और दो, सेठ जी बोले–क्यों? उसने कहा–"मैं तीन चोट ऐसी जगह मारूँगा, जहाँ से आपकी मशीन टूट ही जाएगी।" फिर उसने शांत स्वर में सेठजी को समझाया–''सेठजी! मैंने तीन-चार चोट मारने के पैसे नहीं माँगे। यह तो कोई भी मार सकता है; किंतु चोट कहाँ मारनी है, बस इस बात के पैसे हैं। मैं जानता हूँ कि कौन सी जगह पर चोट करने से आपकी मशीन ठीक हो जाएगी।

महानुभाव! यही बात गुरु के साथ है। इंसान तुम भी हो, इंसान गुरु भी हैं। किन्तु गुरु ये बताते हैं कि चोट कहाँ मारनी है। मिथ्यात्व पर मारनी है या सम्यक्त्व पर मारनी है। गुरु यह बताते हैं कि चोट अपने अहं पर या बुरी आदतों पर मारनी है अथवा अपनी सद्भावनाओं में मारनी है, अपने

जीवन में पनपते हुए क्रोध और अवगुणों पर मारनी है कि वात्सल्य भाव पर मारनी है, अपने जीवन में जलती हुई कुप्रवृत्तियों की आग को बुझाना है कि धर्म की प्यास को बुझाना है। क्या करना है, इस बात को समझाने वाले होते हैं गुरु।

निःसन्देह गुरु के बिना जीवन दीपक से रहित अंधकारयुक्त अरण्य के समान है। जिसमें जीव भटकता रहता है, कभी मंजिल को प्राप्त नहीं होता। महत्व चलने का नहीं है, महत्त्व यह है कि किस मार्ग से चलना है। महत्व बोलने का नहीं, बल्कि इस बात का है कि क्या बोलना है।

वकील एक बात बोलकर आपको केस जिता भी सकता है और एक बात बोलकर हरा भी सकता है। इसी प्रकार गुरु भी जीवन में एक ऐसी बात कहते हैं, कि किसी की आँख से आँसू बह रहे हों और गुरु का संबोधन उसके कर्णगोचर हो जाएँ तो चेहरे पर मुस्कुराहट आ जाती है।

यदि व्यक्ति अहंकार से फूल रहा हो और गुरु एक वाक्य का संबोधन दे दें, तो जैसे पैर के नीचे से जमीन खिसक जाती है–वैसा अनुभव हो जाता है। अहंकार चूर-चूर हो जाता है। जो असर गुरु की बात का होता है, वह असर पूरी दुनिया की बातों का नहीं होता; क्योंकि गुरु अपने अनुभव को पहले स्वयं जीकर बताते हैं। जो जीवन में स्वयं आचरण प्राप्त नहीं करता और दूसरों को बताता है, तो उसकी बात का प्रभाव नहीं होता।

एक प्रसिद्ध प्रसंग महात्मा गांधी जी का सुनने में आता है। साबरमती आश्रम में उनके प्रवास के दौरान एक महिला अपने बालक को लेकर गांधी जी के पास पहुँची, उसने विनम्रतापूर्वक कहा–"गांधी जी! मेरा बेटा गुड़ बहुत खाता है। गुड़ ज्यादा खाने से इसके पेट में कीड़े पड़ जाते हैं। कृपया इसे समझाइए कि यह गुड़ न खाया करे।"

महात्मा गांधी जी ने शांत स्वर में कहा–"माँ! आप इसे एक सप्ताह बाद लेकर आना, तभी मैं इसे समझाऊँगा।" माँ बालक को लेकर लौट गई। पुनः एक सप्ताह बाद लौटकर आई। इस बार गांधी जी ने प्रेमपूर्वक उस बालक को समझाया–"बेटा! ज्यादा गुड़ नहीं खाना चाहिए। यह स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं है।" बालक ने कहा–"अब मुझे गुड़ अच्छा नहीं लगता। पहले मैं बहुत गुड़ खाता था।"

गांधीजी बोले–"तुम्हें गुड़ का त्याग कर देना चाहिए।"

तब बालक ने पूछा–"आपने यह बात पहले क्यों नहीं कही?"

जिज्ञासावश माँ ने भी पूछा–"गांधीजी! जब आपको इतनी-सी ही बात कहनी थी, तो उस दिन जब मैं आई थी तब क्यों नहीं कही?"

गांधीजी बोले–"माँ! जब आप उस दिन बालक को लेकर आई थीं, तब तक मैं भी बहुत गुड़ खाता था। और जो व्यक्ति स्वयं किसी वस्तु का त्याग नहीं कर पाता, वह दूसरे को उसका त्याग करने की प्रेरणा कैसे दे सकता है?

इसलिए पहले मैंने स्वयं गुड़ का त्याग किया, फिर आपके बालक को समझाया।"

महानुभाव! सत्यता यही है। दिगम्बर संत जब स्वयं उस संयम की राह पर चलते हैं, जो कि तलवार की धार के समान है, लोहे के चने चबाने के समान है, तब समाज को संयम-सदाचार के सूत्र बताते हैं। यदि वे संयमित न हों तो कोई भी उनकी बात न माने। और कभी-कभी तो ऐसा होता है कि उन्हें कहना भी नहीं पड़ता—दिगम्बर साधु के रूप को देखकर ही मन में भाव आ जाता है कि हमें भी कुछ त्याग करना चाहिए।

एक बार किसी नगर में साधु-संतों का प्रवेश हुआ। बड़ी धूमधाम से गाजे-बाते के साथ स्वागत हुआ। मार्ग के किनारे पर एक कुम्हार मिट्टी के बर्तन बना रहा था। वह मिट्टी को गूंथ रहा था। बर्तन बनाते-बनाते मिट्टी थोड़ी रह गई। सोचा—"इतनी मिट्टी का घड़ा तो नहीं बनेगा। चलो, एक छोटी-सी चिलम बना देता हूँ।" उस कुम्हार के सामने दो मित्र खड़े थे। वे कुम्हार की क्रिया को देखते हुए बोले, आप क्या बना रहे हो? वह बोला—चिलम बना रहा हूँ। एक व्यक्ति बोला—"बहुत अच्छा! तुम बहुत अच्छी चिलम बनाना। इसे मैं खरीद लूँगा, यह मेरे काम आ जाएगी।"

दूसरा व्यक्ति बोला—"अरे! तुम चिलम पीते हो? आज से मेरी और तुम्हारी मित्रता समाप्त। मैं ऐसे व्यक्ति से मित्रता नहीं रखूँगा।" उसने कहा—देखो—मैं चिलम तो नहीं छोड़ पाऊँगा। ठीक है, यदि तुम चिलम नहीं छोड़ सकते तो

मेरी मित्रता छोड़ दो। यह बात चल ही रही थी, तभी वहाँ से साधु-संतों का संघ निकल रहा था। वे तीनों (कुम्हार और दोनों मित्र) उन्हें देख रहे थे, किसी ने कहा-"ये यथाजात दिगम्बर साधु हैं। ये बहुत तपस्वी होते हैं। इनकी जैसी साधना करना हर किसी के वश की बात नहीं है।" और इतने में ही जुलूस वहाँ से निकल गया। वे तीनों अपने स्थान पर ज्यों की त्यों बैठ गए। कुम्हार जो उस मिट्टी से चिलम बना रहा था, उसने मिट्टी पर थपकी मारी और उससे छोटा-सा कलश बना दिया। उस चिलम लेने वाले ने देखा और पूछा-"अरे! तुम यह क्या कर रहे हो? चिलम बनाते-बनाते कलश क्यों बना दिया?"

कुम्हार बोला-"अगर मैं चिलम बनाता, तो तुम उसे पीते, इससे तुम्हें भी पाप लगता और मुझे भी पाप लगता। अब मैं चिलम नहीं, मंगल कलश बना रहा हूँ।"

"क्यों, ऐसा क्या हो गया?" कुम्हार बोला-"मैंने अभी दिगम्बर साधु को देखा है। वे आहार को उठते हैं, तब उनका पड़गाहन कलश से होता है। मैंने कलश बनाया जिससे लोग उन्हें पड़गाएँगे, उससे उन्हें भी पुण्य मिलेगा और मुझे भी पुण्य मिलेगा।"

कुम्हार ने कहा-"अभी-अभी दिगम्बर साधुओं को देखकर मेरा विचार बदल गया। वह चिलम पीने वाला कहता है-'भैया! ठीक है, आज से मेरा चिलम पीने का त्याग, मैं कभी जीवन में यह व्यसन नहीं करूँगा।'

आज दिगम्बर साधु को देखकर मेरा आचार बदल गया। तभी उसका मित्र जो पास में ही बैठा था, वह कहता है—भाई! मैंने दिगम्बर साधु को देखा तो मेरा व्यवहार बदल गया। कहते हैं—"घृणा पाप से करो, पापी से नहीं।'' क्योंकि तुमने इस पाप का त्याग कर दिया है। इसलिए आज से मेरी और तुम्हारी मित्रता पक्की।

महानुभाव! एक कह रहा है—दिगम्बर साधु को देखकर मेरा विचार बदल गया। दूसरा कह रहा है—मेरा आचरण बदल गया। तीसरा कह रहा है मेरा व्यवहार बदल गया। तीनों अपनी-अपनी बात कह रहे हैं। तभी वहाँ पड़ी मिट्टी मौन भाषा में कह उठी—"सुनो! तुम्हारा विचार बदला तो कुछ नहीं बदला; तुम्हारा आचार बदला तो कुछ नहीं बदला; तुम्हारा व्यवहार बदला तो कुछ नहीं बदला।" अरे! कोई मुझसे पूछे—मेरे तो जीवन का आधार ही बदल गया।

मैं जो चिलम बनाने जा रही थी, मंगल कलश बन गई। लोग उसे शुभ मानते हैं और ऊँचे स्थान पर स्थापित करते हैं। मेरा तो नाम भी मंगल हो गया—पाप को गलाने वाला। अगर मैं चिलम होती तो पाप का कारण बनती।

महानुभाव! यह सत्य है कि दिगम्बर साधु को देखकर किसी का विचार बदल जाता है, किसी का आचार बदल जाता है, किसी का व्यवहार बदल जाता है, और किसी-किसी के जीवन का तो आधार ही बदल जाता है।

जीवन में गुरु का वही महत्त्व है जो प्रकाश का महत्त्व है। दीपक में कितना भी घी-तेल हो, कितनी भी बड़ी

बाती हो, किन्तु यदि गुरु उसे अपने जलते हुए दीपक से प्रज्ज्वलित नहीं करते हैं, तो बड़े से बड़े दीपक का भी कोई महत्त्व नहीं है।

गुरु के स्पर्श से जब कोई भव्य जीव गुरु के चरणों में अपना माथा रखता है, तो समझ लीजिए उसके दीपक की बाती प्रज्ज्वलित हो जाती है। चित्त में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। जो श्रद्धा धूमिल सी दिखाई देती है, वह निर्मल और उज्ज्वल हो जाती है, और संयम की भावना स्वतः ही भीतर से पैदा होने लगती है। यही जीवन में गुरु का महत्त्व होता है।

।।श्री शान्तिनाथ भगवान की जय।।

आत्मकल्याण के पाँच सूत्र

महानुभाव! आचार्य भगवंत श्री शिवकोटि जी मुनिराज ने आत्मकल्याण के पाँच सूत्र दिए। उन सूत्रों को अपने जीवन में वैसे ही स्वीकार करना चाहिए, जैसे कोई कृषक अपने खेत में बीज बोता है।

जब कृषक अपने खेत में बीज बोता है, तब उस बीज के माध्यम से जो वृक्ष बनता है, पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है, वह बीज यह नहीं देखता कि यह खेत किसका है, खेत की मिट्टी उपजाऊ है या नहीं–यदि बीज को पर्याप्त नमी, सूर्य का प्रकाश और हवा-पानी मिल रहा है, तो वह बीज वृक्ष बन जाता है।

कूप कोई भी हो, यदि उसमें पानी है तो उसी पानी के माध्यम से राहगीर की प्यास बुझ जाती है। पानी नहीं है तो कूप कैसा भी क्यों न हो, चाहे उस पर बहुत अच्छा पत्थर लगाया हुआ हो, चाहे उसका पाट सोने से बनाया हुआ हो, फिर भी वह कूप बेकार है, निःसार है।

जिस सरिता में जल नहीं है, उसके किनारे चाहे रत्नों से सुसज्जित क्यों न हों, वह प्यासे प्राणियों की तृषा को शांत नहीं कर सकती। वह देह के ताप को दूर नहीं कर सकती। वह पृथ्वी को हरित नहीं कर सकती। ऐसे ही केवल बाहरी आडंबर से जीवन सफल नहीं होता; जब तक मनुष्य अपने

जीवन में श्रेष्ठ सिद्धांतों और जीवन-सूत्रों को वास्तविक रूप में स्वीकार नहीं करता, तब तक जीवन का कल्याण नहीं हो सकता।

कई बार सरकार भी पंचवर्षीय योजनाएँ बनाती है, जिनमें पाँच कार्य निर्धारित किए जाते हैं। इसी प्रकार इस भव में हमें भी पाँच कार्य करने चाहिए। पंच सूत्री योजना प्रत्येक प्राणी को अपने लिए बनाना आवश्यक है। वे पाँच सूत्र कौन से हैं? तो आचार्य महाराज ने लिखा है–

तवयरणं वयधरणं संजमसरणं च जीवदयाकरणं।
अन्ते समाहिमरणं, चउविह दुक्खं णिवारेइ॥"

हे भव्य जीव! चतुर्गति के दुःखों से यदि तुम मुक्त होना चाहते हो, जन्म-मरण के चक्र से बचना चाहते हो, तो पाँच सूत्रों को जीवन में धारण करो।

प्रथम सूत्र कहा–**तवयरणं।** तपधारण करो। तप वह है जो संसार में पतित प्राणी को उन्नति की ओर ले जाता है। तप वह है जो इच्छाओं के बंधनों को तोड़कर जीव को स्वतंत्रता प्रदान करता है। प्राणी के जीवन में जितनी ज्यादा इच्छाएँ रहेंगी, उतना ही उसका दुःख भी अधिक होगा। व्यक्ति किसी और से नहीं, अपनी बेलगाम इच्छाओं से दुःखी रहता है। बस, उन पर लगाम लगाना आवश्यक है।

यदि आप किसी वाहन पर बैठकर यात्रा करते हैं, तो उस वाहन में भी ब्रेक होते हैं। यदि ब्रेक न हों तो उस वाहन की यात्रा खतरनाक हो जाती है। वह यात्रा मंजिल

तक तो पहुँचाएगी ही नहीं। जीवन में कितनी हानि पहुँचा सकती हैं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

महानुभाव! इसी तरह यहाँ आचार्य महोदय कह रहे हैं कि तपस्वी बनो अर्थात् इच्छाओं पर पूर्ण विराम लगाओ।

अभी तक संसार में प्राणी के जीवन में "AND" अर्थात "और" लगा हुआ है। व्यक्ति को कुछ भी मिल जाए, तब भी वह संतुष्ट नहीं होता। उसे और चाहिए, और चाहिए, और चाहिए।

जब तक यह AND "और" से "END" 'समाप्ति' में परिवर्तित नहीं होगा, तब तक व्यक्ति के जीवन में दु:खों का अंत होना असम्भव है।

इसे अपने मन से कहना पड़ेगा– "बस! अब और कुछ नहीं चाहिए।" क्योंकि वास्तविक जीवन में संतोष ही सबसे बड़ा धन है।

सम्यग्दृष्टि जीव सहजोपलब्ध विषयभोगों में भी अनासक्त होता है। वह सहजोपलब्ध वस्तु–सामग्री का भी अति–आसक्ति से सेवन नहीं करता। उनसे विरक्त होकर निज स्वभाव का चिंतन करता है। इसलिए जीवन में इच्छाओं पर विराम लगाना बहुत आवश्यक है। यदि इच्छाओं पर विराम नहीं लगाया, तो जीवन में जो आस्रव हो रहा है, वह बढ़ता जाएगा। उस आस्रव से बचने का कोई उपाय नहीं। जहाँ से आस्रव हो रहा है उन छिद्रों को बंद करना पड़ेगा। छिद्रों को बंद करने का नाम है इच्छाओं पर विराम लगा

देना जिससे नूतन कर्म का बंध न हो। और यह तप केवल नूतन कर्म-बंध से बचाता ही नहीं अपितु पूर्व में बाँधे हुए कर्मबंधन से भी मुक्ति दिलाता है।

इसीलिए आचार्य महोदय ने पहला सूत्र दिया–

"तवयरणं"। तप के बिना किसी की मुक्ति नहीं होती।

"जिस बिना नहि जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग कीच में।
एक घड़ी मत विसरो करी नित आव जम मुख बीच में।"

महानुभाव! हमें एक पल, एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए; क्योंकि यमराज के मुख में बैठे हैं। कर्मभूमि के मनुष्य की मृत्यु कभी भी हो सकती है, इसलिए जिसके बिना तीर्थंकर भी मोक्ष नहीं जा सकते, वह तप अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

आप कहेंगे उपरोक्त पद तो संयमधर्म में आता है–संयम कहो, दीक्षा कहो या तप कहो–ये सब एक समानार्थक हैं। क्योंकि तीर्थंकर प्रभु जब दीक्षा लेते हैं, तब यही कहा जाता है कि वे तप को चले गए, और दीक्षा कल्याणक को तप कल्याणक कहते हैं। दीक्षा लेना ही अपने आप में तप है; क्योंकि दिगम्बर दीक्षा बिना इच्छाओं के निरोध के संभव नहीं है। सग्रंथ दीक्षाओं में तो इच्छाओं की पूर्ति होती है, किन्तु दिगम्बर दीक्षा में इच्छाओं का निरोध होता है। अतः यहाँ पर दिगम्बर दीक्षा व तपश्चरण एकार्थवाची कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी।

"जैनिं दीक्षा हि स्वेच्छाचार विरोधिनी।" यह जैनी दीक्षा है जिसमें स्वेच्छाचार नहीं चलता, मनमानी नहीं चलती। इस दीक्षा में तो जिनवाणी की ही चलती है।

हमारा मन ऐसा करने का नहीं हो रहा, अगर जिनवाणी कह रही है तो ऐसा करना ही पड़ेगा। हमारा मन नहीं मान रहा, अगर जिनवाणी कह रही है तो मानना ही पड़ेगा; क्योंकि अनादिकाल से मनमानी करते चले आ रहे हैं। जिनवाणी की बात नहीं मानते, मनमानी करते रहते हैं। यदि अब कुछ नया प्राप्त करना है तो जिनवाणी की बात को स्वीकार करना पड़ेगा। जिनवाणी के वचनों को हृदय में धारण करना पड़ेगा। **''जिनवचन ही परम औषधि है''**। जो जन्म, जरा और मरण जैसे रोगों का विनाश करती है। जिनवचन ही ऐसा मार्ग है जिसके अनुसार चलने पर सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। जिनवचन ही ऐसा रसायन है जो आत्मा में घुलता है, तो निजत्व में जिनत्व प्रकट हो जाता है, उसकी आत्मा में परमात्मा प्रकट हो जाता है, अतः जिनवचन के बिना आत्मा का कल्याण संभव नहीं है।

इसलिए स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति छोड़कर ही व्यक्ति दीक्षा को ग्रहण करता है। जहाँ पर इच्छाओं का दमन किया जाता है, उसी का नाम दीक्षा है। यदि इच्छाओं का दमन नहीं किया तो दीक्षा नहीं हुई, केवल भेष परिवर्तन होगा।

मात्र भेष परिवर्तन से अंतरंग का परिवेश परिवर्तित हो, नियामक हेतु नहीं है। इच्छाओं का दमन करने से अंतरंग का परिवेष अपने आप परिवर्तित होने लगता है।

वह तपस्या कैसे की जाए?–**''वयधरणं''** व्रतों को स्वीकार करके। व्रत का अर्थ होता है–पाँचों पापों का संकल्पपूर्वक त्याग करना।

जब जीवन में व्रत आते हैं, उन व्रतों का जब सावधानीपूर्वक पालन किया जाता है, तो वह संयम कहलाता है। समितियुक्त पालन किए गए व्रत संयम कहलाते हैं। संयम के साथ ही तप शोभा को प्राप्त होता है। यदि कोई व्यक्ति वस्त्र पहने बिना ही आभूषण पहनना शुरु कर दे, तो जिस तरह वस्त्र रहित आभूषण शोभा को प्राप्त नहीं होते वैसे ही संयम से रहित तप भी शोभा को प्राप्त नहीं होता।

जिस प्रकार बिना वेदी और जिनदेव के मंदिर मंदिर नहीं होता। ऐसे ही संयम के बिना तप का कोई महत्व नहीं होता।

यदि आत्मा का कल्याण करना है, तो जीवन में व्रतों को धारण करना होगा। पुनः कहा **'संजमसरणं'** व्रतों को धारण कर लिया जाए, तो संयम की शरण को प्राप्त किया जा सकता है। संयम की शरण ही मोक्ष की शरण है।

जो मनुष्य संयम की शरण को प्राप्त करने की सच्ची भावना रखते हैं, वे ही उत्तम मार्ग के अधिकारी बनते हैं। संयम का पालन करने से जीवन में अनेक परिवर्तन होते हैं। संयमी के जीवन में ही तप का अविर्भाव होता है; जिस तरह दूध के बिना घी नहीं निकाला जा सकता, उसी तरह संयम के बिना मुक्तिव्रत प्राप्त नहीं होता, अतः संयम की शरण अत्यंत आवश्यक है। संयम की शरण में पहुँचकर

आत्मा की स्थिति बदल जाती है। संयम कर्म रूपी शत्रुओं से आत्मा की रक्षा करता है। संयम का कवच धारण करने पर कर्मों के बाण आत्मा को स्पर्श नहीं कर पाते। संयम का यह कवच इतना शक्तिशाली है कि उसके प्रभाव से मनुष्य के भीतर से विकार दूर हो जाते हैं, और जब भीतर के सभी विकार समाप्त हो जाते हैं, तब आत्मा को निर्वाण अवस्था की प्राप्ति हो जाती है।

आगे आचार्य भगवन् ने कहा–

'जीवदया-करणं' जीवमात्र पर दया रखना।

जीव हिंसा न करो, जीव दया करो।

किसी के प्रति बुरा भाव मत रखो, किसी के प्रति बुरे वचन मत बोलो, किसी के प्रति बुरी चेष्टा मत करो, किसी को बुरी दृष्टि से मत देखो, उसमें भी अच्छाई खोजो। जो जैसा होता है, वही खोजने की कोशिश करता है।

महानुभाव! अच्छे व्यक्ति को सब क्रियाएँ अच्छी-अच्छी दिखाई देती हैं। गुणग्राहक व्यक्ति के लिए संसार में गुणों की कमी नहीं है। गुण देखने वालों को संसार में सर्वत्र ही गुण मिल जाते हैं, और बुराई देखने वाले को भी संसार में सर्वत्र बुराई मिल जाती है। यहाँ तक कि वह भगवान में भी बुराई खोज लेता है।

नारायण श्रीकृष्ण जब गुरुकुल में अध्ययन करते थे, तब एक बार वनविहार को जा रहे थे। मार्ग में एक स्थान पर अर्द्धमृतक श्वान पड़ा हुआ था। उसके शरीर में कीड़े पड़े

हुए थे, और बहुत दुर्गंध आ रही थी। इसी कारण सभी लोग इधर-उधर से निकलकर जा रहे थे और अपनी नाक बंद करते हुए निंदा के शब्द बोल रहे थे। उसी मार्ग से श्रीकृष्ण भी निकले। उन्होंने उसे देखा और बोले इस श्वान के दाँत कितने सुंदर हैं। उन्होंने यह नहीं कहा कि इसमें से बदबू आ रही है, कीड़े पड़े हैं, बल्कि उन्होंने उसमें भी सुंदरता देखी। जिसकी दृष्टि गुणग्राहक होती है वह गुणों को ग्रहण कर लेता है।

कहा गया है—**खूबियाँ भी बहुत हैं मेरे अंदर, किन्तु कमी खामियों की भी नहीं।" अब तुम बताओ—तुम्हें मुझसे क्या चाहिए? खामियाँ चाहिए या खूबी?**

एक दुकान है, जिस पर नकली घी भी बिकता है और असली घी भी बिकता है। नकली घी सस्ता मिलता है और असली घी महँगा मिलता है। अब आपको क्या चाहिए—यह आपको ही चुनना होगा।

गुलाब का पौधा अपनी सुगंध से सर्वत्र विख्यात है, किन्तु उस पौधे में काँटे भी होते हैं। हर अच्छाई के पीछे कोई बुराई भी हो सकती है, किन्तु यह व्यक्ति की रुचि पर निर्भर करता है कि वह क्या ग्रहण करता है। जो व्यक्ति काँटों को देखता है वह काँटे ही देखेगा, और जो व्यक्ति फूलों को देखता है वह फूल ही देखेगा। ऐसे ही हमें जीवन में क्या ग्रहण करना है यह हमारी दृष्टि पर निर्भर करता है।

यदि हमारी दृष्टि अच्छी हो तो संसार में अच्छाइयों की भी कोई कमी नहीं है।

''अच्छाइयाँ देख ले तू सारे जहान की, बुराइयों का कहीं कोई अंत नहीं है।'' जहाँ भी अच्छाई मिले, ग्रहण कर लो। बुराइयाँ अनादिकाल से हैं, थी व रहेंगी। सफल लोग भी इन्हीं लोगों में से बनते हैं। उन लोगों की अच्छाइयों को देखकर सज्जनता ग्रहण करो। दुर्जनों की दुर्जनता का परित्याग करो।

"सज्जन पै सौ-सौ चलें, दुर्जन चलें न एक।
ज्यों मीन पाषाण की, ठोकें ठुके न मेक।"

सज्जनों के साथ रहने से व्यक्ति सज्जनता ग्रहण करने लगता है। दुर्जन के साथ सज्जन नहीं रहता, दुर्जन दुर्जन का साथ पकड़ता है। जिसे जो चाहिए वह ग्रहण कर लेता है। यहाँ संसार में किसी चीज की कमी नहीं है। कोई भी दुकानदार आपको कोई भी वस्तु जबरदस्ती नहीं देता। दुकानदार वही सामान निकालकर देता है, जो ग्राहक माँगता है। संसार एक दुकान है। इस संसार की दुकान में अच्छाई भी है, बुराई भी है। संयम भी है, असंयम भी है। सम्यग्दृष्टि भी है, मिथ्यादृष्टि भी हैं। ज्ञानी भी हैं और अज्ञानी भी हैं। सब कुछ है, बस अपनी आत्मा से पूछो कि क्या चाहिए। जो चाहिए उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करें।

'जीवदयाकरणं' जीवों पर दया का भाव रखो। शरीर से जीव हिंसा बहुत कम होती है, वचनों से उससे अधिक हो जाती है, और मन से उससे भी अधिक हो जाती है, किन्तु कर्म का बंध तीनों के माध्यम से होता है। कर्म का आस्रव तीनों योगों से होता है। किंतु मन के परिणामों से

जिस प्रकार की कषाय, चारित्रमोहनीय के परिणाम होते हैं, उससे स्थिति और अनुभाग बंध पड़ता है। इसलिए सदा अपने परिणामों को सँभालने की कोशिश करें। जिसने अपने भाव सँभाल लिए, उसे स्वाभाव की प्राप्ति हो जाएगी। भाव नहीं सँभाले तो विभाव में पड़े रहेंगे। परिणामों को सँभाल लिया तो जीवन का परिणाम बहुत अच्छा आएगा। परिणामों को नहीं सँभाला तो जीवन का परिणाम बहुत बुरा होगा।

व्यक्ति कई बार कहता है–"मुझे चिंता नहीं है, भले ही मुझे हो जाए नरक या दुर्गति, किन्तु मैं तो ऐसा ही करूँगा।" उस समय उसका अहंकार बोलता है, उसकी कषायें बोलती हैं, किन्तु जब वास्तव में जीवन में दुःख आता है संकट के बादल मंडराते हैं, हर कदम पर उसे प्रतिकूलता दिखाई देती है तब वह सिर पटकता है। एक दिन की साकांक्ष भक्ति से पाप मिट नहीं जाते। जब दीर्घकाल तक पापों का बंध किया है, तो दीर्घकाल तक पुण्य भी करना पड़ेगा। एक दिन में पाप कम नहीं हो सकते। आज भी कई व्यक्ति ऐसे हैं जो पुण्य कार्य में लगे होने के बावजूद भी दुःखी दिखाई देते हैं। उन्हें देखकर बड़ी दया-करुणा आती है; फिर यही विचार आता है कि पूर्व जीवन में उसने क्या-क्या कर्म किये होंगे–धर्म की अवहेलना की होगी, धर्मात्माओं का अपमान किया होगा, किसी को कष्ट दिया होगा। जिनके कारण आज इस प्रकार के फल प्राप्त हो रहे हैं।

ऐसा निधत्ति-निकाचित कर्म बाँधा जो काटे बिना समाप्त नहीं होता, मनुष्य को भोगना ही पड़ता है। अंजना ने बाईस वर्ष तक पति वियोग सहन किया, सीता ने भी अपवाद सहन किया; उन्हें महल छोड़कर वन में रहना पड़ा, अग्नि परीक्षा देनी पड़ी। भगवान पार्श्वनाथ स्वामी ने दस भवों तक अनेक उपसर्ग सहन किए। भगवान आदिनाथ स्वामी जिन्हें तेरह माह आठ दिन तक आहार लाभ नहीं मिला। भगवान महावीर स्वामी, सुपार्श्वनाथ स्वामी आदि तीर्थंकरों ने भी उपसर्ग सहन किया। इन सबका उल्लेख आगम ग्रंथों में मिलता है।

इससे यह समझ में आता है कि कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है; क्योंकि प्रत्येक जीव अपने ही बंधे हुए कर्मों का फल भोगता है। दूसरे के कर्म का फल कोई नहीं भोग सकता। जब मुझे अपने ही कर्मों का फल भोगना है, तो फिर क्यों मैं ऐसे कर्म करूँ जो दुःख देने वाले हों?

आगे आचार्य महोदय कह रहे हैं–**"अन्ते समाहि-मरणम्।"**

सुबह-शाम जब भी समय मिले, हाथ जोड़कर भगवान के समक्ष पहुँचकर या परोक्ष में भी भावनाओं से यही कहना–"हे भगवन्! मुझे कुछ नहीं चाहिए, बस उत्तम समाधिमरण चाहिए।"

आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी द्वारा रचित एक जाप मंत्र है। जिसमें ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं आदि कुछ भी नहीं है। वह जाप है–

“आरोग्ग-बोहिलाहं दिंतु-समाहिं च मे जिणवरिंदा।”

मेरे शरीर में कोई रोग न हो, मुझे बोधि का लाभ हो, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति हो। तथा हे जिनेन्द्र भगवान्! मुझे अन्त में समाधि-मरण प्राप्त हो।

आप भी सुबह-शाम जब भी अनुकूलता हो, ये शब्द दोहराते रहें। हे जिनेन्द्र भगवान! मेरे लिए आरोग्य, बोधि और समाधि की प्राप्ति होवे। आरोग्य लाभ प्राप्त होगा, तो संयम-साधना, धर्म-ध्यान प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि शरीर में रोग होता है तो संक्लेशता बनती है और संक्लेशता अधिक हो जाती है तो चित्त अशांत हो जाता है। बोधि की प्राप्ति हो गई तो बोधि का फल समाधि होता है। अत: जीवन में भावना भाओ कि हमें समाधि की प्राप्ति हो। जिसे समाधि की प्राप्ति हो जाती है वह अल्प भव लेकर मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

महानुभाव! इन सबकी प्राप्ति भावनाओं से होती है। कुभावों से तपस्या करने वाला, त्याग करने वाला, व्रत पालन करने वाला भी कदाचित् दुर्गति में जा सकता है; किन्तु शुभ भावना वाला व्यक्ति कभी दुर्गति में नहीं जा सकता। **‘‘भावना भवनाशिनी-भावना भवर्द्धिनी’’** भावना से ही संसार का संवर्धन होता है और भावना से ही भव का नाश होता है। इसलिए सदा अपने परिणाम निर्मल रखो। जब परिणाम निर्मल होते हैं तो जीवन में किसी प्रकार का कषाय या पाप का भाव उत्पन्न नहीं होता।

माता–बहिनें जब भी रसोई बनाती हैं तो अपने व्यंजन को बिगड़ने नहीं देती, संभालने की पूरी कोशिश करती हैं। घर में भी गंदगी को टिकने नहीं देती। बाहर की गंदगी तो दिखाई देती है, किन्तु अंतरंग की गंदगी दिखाई नहीं देती। यदि मन में, चेतना में गंदगी आ जाती है तो उसे साफ किए बिना जीवन में शुद्धता नहीं आ सकती। शरीर की गंदगी को तो हम जल से साफ कर लेते हैं, किन्तु आत्मा की गंदगी को तो केवल संयम रूपी साबुन से ही दूर किया जा सकता है। यह शरीर जो औदारिक है, वह क्षणभर में परमौदारिक बन सकता है। किन्तु आत्मा को निर्मल बनाने के लिए तप, त्याग और संयम का पालन करना आवश्यक है। समाधि की साधना करना जरूरी है।

महानुभाव! आचार्य वट्टकेर स्वामी जी ने कहा है–संसार में जिसने भी जन्म लिया है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। कोई भी इससे बच नहीं सकता। तीर्थंकर आदि महापुरुष को भी महामृत्यु अर्थात् निर्वाण को प्राप्त होना पड़ता है। किन्तु जिसने जीवन में धर्म का मार्ग अपनाया है, उसकी मृत्यु भी महान बन जाती है। जिसका जीवन पवित्र होता है, उसकी मृत्यु भी पवित्र होती है। आचार्य भगवन् वट्टकेर स्वामी जी ने मूलाचार में कहा–

धीरेण वि मरिदव्वं, णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं, वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं।।100।।

सीलेणवि मरिदव्वं, णिस्सीलेणवि अवस्स मरिदव्वं।
जइ दोहिं वि मरियव्वं, वरं हु सीलत्तणेण मरियव्वं।।101।।

धीर-वीर को भी मरना पड़ता है और निश्चित रूप से धैर्य रहित जीव को भी मरना पड़ता है। यदि दोनों को मरना ही पड़ता है, तब तो धीरता सहित होकर मरना अच्छा है। शीलवान की मृत्यु होती है, और शीलहीन की भी मृत्यु होती है। जब दोनों की ही मृत्यु होती है, तो क्यों न हम शीलवान होकर मृत्यु को प्राप्त करें।

संयमी की भी मृत्यु होती है और असंयमी की भी मृत्यु होती है। जब संयमी और असंयमी दोनों की ही मृत्यु होती है, तो क्यों न हम संयमी बनकर मृत्यु को प्राप्त करें।

धार्मिक की भी मृत्यु होती है और अधर्मात्मा की भी मृत्यु होती है। जब दोनों की मृत्यु होती है, तब धर्म के साथ मृत्यु को क्यों न स्वीकार करें।

महानुभाव! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, सम्यक् तप, सम्यक् वैराग्य और सम्यक् व्रत-इन सबके साथ जब मृत्यु प्राप्त की जाती है, तब वह मृत्यु, मृत्यु की मृत्यु करने वाली होती है। अर्थात् संसार का अंत करने वाली होती है। ऐसी आत्मा कुछ ही भव में मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होती है। इस प्रकार-तपश्चरण, व्रतधारण, संयमशरण, जीवदया-करण और समाधिमरण इनसे चतुर्गति के दुःखों का निवारण होता है। आप सब लोग चतुर्गति के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करें, इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

खर्च कहाँ और कैसे?

महानुभाव! खर्च कहाँ करें, कैसे करें और कितना करें—यह एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। एक कहावत सुनने में आती है—

आमद कम खर्चा ज्यादा ये लक्षण है मिटने का।
कुब्बत कम गुस्सा ज्यादा ये लक्षण है पिटने का॥

प्राय: यह देखा जाता है कि आमदनी कम और खर्च अधिक होना पतन का लक्षण है। इसी प्रकार सहनशीलता कम और क्रोध अधिक होना भी पतन का ही संकेत है।

गृहस्थ को खर्च तो करना ही पड़ता है, किन्तु विवेकी गृहस्थ वही कहलाता है जो अपनी आमदनी के अनुसार खर्च करता है। जब मनुष्य अपनी आमदनी के अनुरूप खर्च करता है तो उसे संतोष और शांति की प्राप्ति होती है। परन्तु जो व्यक्ति खर्च के अनुसार अपनी आमदनी बढ़ाने का प्रयास करता है, वह सदैव चिंताओं के जाल में फँसा रहता है।

क्योंकि खर्च एक बार बढ़ जाने के बाद उसे कम करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। और जब आमदनी बढ़ नहीं पाती, तब मनुष्य निरंतर चिंता करता रहता है। विवेकी व्यक्ति सदैव यह विचार करता है कि मेरा "इनपुट" और "आउटपुट" कितना है। यदि उसे यह दिखाई देता है कि

आउटपुट (आमदनी) कम और इनपुट (लागत) अधिक है, तो वह तुरंत सावधान होकर उस कार्य को बंद कर देता है। परन्तु जो ऐसा नहीं करता, वह धीरे-धीरे विनाश के कगार पर पहुँच जाता है।

गृहस्थ धन कमाता है और कमाना उसके लिए आवश्यक भी है। बिना धन कमाए वह अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। परिवार का पालन-पोषण करना, समाज में अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना और धार्मिक भावनाओं की पूर्ति करना—इन सबके लिए धन की आवश्यकता होती है। अपने शरीर के संरक्षण, पोषण और संवर्धन के लिए भी धन आवश्यक है।

इसलिए धन अवश्य कमाओ, परन्तु उतना ही कमाओ जितना वास्तव में आवश्यक है। जो व्यक्ति अनावश्यक रूप से धन कमाने की लालसा रखता है, उसका धन प्रायः अनावश्यक कार्यों में ही व्यय हो जाता है। अनावश्यक धन कमाने के लिए मनुष्य को कई बार पाप का सहारा लेना पड़ता है और उस अनावश्यक धन को खर्च करने के लिए भी उसे पाप के मार्ग खोजने पड़ते हैं। इस प्रकार अनावश्यक रूप से अर्जित धन अंततः पाप के मार्ग में ही चला जाता है।

इसलिए आवश्यक है कि धन सही और उचित मार्ग से कमाया जाए। जो धन धर्मसम्मत, न्यायपूर्ण और श्रम के आधार पर प्राप्त होता है, वही वास्तव में प्रशंसनीय है। यदि मनुष्य अनावश्यक धन कमाने की इच्छा करता है, तो

उसे कहीं न कहीं न्याय व्यवस्था का उल्लंघन करना पड़ता है—कभी चोरी, कभी बेईमानी और कभी अन्य अनुचित उपायों का सहारा लेना पड़ता है।

जब मनुष्य के भीतर यह भावना जागृत रहती है कि परिश्रम से प्राप्त धन ही उचित है, तभी वह अनैतिक मार्गों से दूर रहता है। यही भावना चोरी और बेईमानी जैसी प्रवृत्तियों को रोकने में सहायक बनती है। यदि किसी व्यक्ति के पास खर्च कम और आमदनी अधिक है और उसकी इच्छाएँ नियंत्रित हैं तो उसकी आमदनी शेष बचती है, वह धर्मकार्य में प्रयुक्त हो सकती है। परंतु यदि किसी के पास आमदनी कम और खर्च अधिक है तो वह व्यक्ति आमदनी के नए स्रोतों की खोज में लग जाता है। वह सोचने लगता है—कौन-सा व्यापार किया जाए, कौन-सा रास्ता अपनाया जाए जिससे अधिक लाभ मिल सके और जीवन आराम से चल सके।

जो व्यक्ति एक बार खर्च के चक्र में फँस जाता है, वह प्रायः आमदनी बढ़ाने के लिए अनुचित मार्गों का सहारा लेने लगता है। ऐसे मार्ग भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल होते हैं और मान-मर्यादा को नष्ट करने वाले होते हैं। इसलिए खर्च करने से पहले मनुष्य को यह अवश्य विचार करना चाहिए कि कितना खर्च करना है, क्यों करना है और किस प्रकार करना है। यदि खर्च का दायरा बढ़ा दिया जाता है तो उसके साथ-साथ आमदनी की चिंता भी बढ़ जाती है। जब अनावश्यक खर्चों की सूची बन जाती है, तब मनुष्य यह सोचने लगता है कि इन खर्चों की पूर्ति कैसे होगी।

कभी-कभी व्यक्ति जब संतोष की भावना धारण कर लेता है, तब कहता है–"मुझे अधिक की आवश्यकता नहीं है। दो जोड़ी वस्त्र पर्याप्त हैं, चार रोटियाँ मिल जाएँ तो पेट भर जाता है। इससे अधिक मुझे क्या करना है? मुझे भोग-विलास में जीवन नष्ट नहीं करना है। तृष्णा की पूर्ति आज तक किसी की नहीं हुई।''

तो इसका आशय यही निकला कि तुम्हारे जीवन के लिए अनिवार्य तो इतना ही है कि शरीर को ढकने के लिए वस्त्र, उदरपूर्ति के लिए भोजन, रहने के लिए स्थान और परमात्मा की आराधना के लिए थोड़ा समय। वास्तव में इतने से ही मनुष्य का जीवन सुचारु रूप से चल सकता है, परंतु जब मनुष्य इससे अधिक की लालसा करता है, तब वह अनेक प्रकार के कार्यों में उलझ जाता है। उन कार्यों में उलझने से पाप का आस्रव होता है, अनगिनत इच्छाएँ जन्म लेती हैं और इन्द्रियों की वृत्तियाँ भी उच्छृंखल होने लगती हैं।

जिस व्यक्ति को भूख से अधिक भोजन मिल जाता है, उसका पेट भी खराब हो जाता है। जिस व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक खाने की आदत पड़ जाती है, वह अपने स्वास्थ्य को स्वयं नष्ट करता है। जो पदार्थ स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होते हैं, उन्हें न खाकर जो हानिकारक होते हैं, उन्हें पहले ग्रहण करता है, फिर औषधि खाता है, फिर त्याग करता है; किन्तु विवेकी व्यक्ति इस विषय में विचार करता है–

"मैं इतना अधिक किसके लिए कमाऊँ? ज्यादा कमाने के लिए मुझे पाप करना पड़ता है। मुझे केवल अपना पेट भरना है, मुझे हजारों पेट भरने की आवश्यकता नहीं है।"

सबके लिए मैं पाप करूँगा, तो फिर उस पाप को चुकाने के लिए दान करना पड़ेगा, प्रायश्चित्त करना पड़ेगा, व्रत-उपवास करने पड़ेंगे। और जब मुझे पाप ही नहीं करना है, तो फिर मेरा चित्त शुद्ध रहेगा। जब पाप नहीं होगा तो पाप का प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। जैसे जिस व्यक्ति का शरीर गंदा नहीं है, उसे बार-बार स्नान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परंतु जो व्यक्ति अपने शरीर पर बार-बार कीचड़ लगाता रहता है, उसे उस गंदगी को धोने के लिए अधिक साबुन और अधिक पानी की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए समझदारी इसी में है कि मनुष्य स्वयं को गंदा होने से ही बचाए।

महानुभाव! इसी प्रकार आप अपनी इच्छाओं को अनावश्यक रूप से बढ़ाते ही क्यों हैं? जितनी इच्छाएँ बढ़ेंगी, उतना ही आपका मन अशांत बनेगा। आपको दूसरों के प्रति कठोर वचन बोलने पड़ेंगे, शरीर को भी अनेक कष्ट सहने पड़ेंगे और आपके कारण दूसरों के हृदय को भी ठेस पहुँचेगी। इसलिए ऐसी इच्छाओं को क्यों पालना, जो जीवन को अशांत कर दें?

यदि मनुष्य अपने भीतर संतोष की भावना रखे, तो उसके मन में यह विचार ही नहीं आएगा कि मैं बेईमानी से धन प्राप्त करूँ। जब अंतःकरण शुद्ध होगा, तब मन स्वयं कहेगा—मुझे अधिक धन की आवश्यकता नहीं है। यदि मैंने

अपने परिग्रह का परिमाण निश्चित कर लिया, तो मेरे पास जितना धन और वस्तुएँ होंगी, वही पर्याप्त होंगी। उससे अधिक की लालसा नहीं रहेगी।

तब कोई आकर आपको बहुत सारा धन भी देगा तब भी आप हाथ जोड़कर कहोगे भैया! क्षमा करो, हमें इस धन की आवश्यकता नहीं है। हमारे लिए तो अपने श्रम से अर्जित न्यायोचित धन ही पर्याप्त है। हम उसी का उपयोग करना चाहते हैं। जिस समय भाग्य में रोटी नहीं होगी, उस समय उपवास कर लेंगे; और जब भाग्य साथ देगा, तब भोजन प्राप्त हो जाएगा। मनुष्य अपने भाग्य से अधिक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता।

अतः हमें अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। कर्तव्य का फल समयानुसार अवश्य मिलता है। किन्तु हमें उतना ही फल प्राप्त करने की इच्छा रखनी चाहिए, जितना हमारे परिश्रम के अनुरूप हो।

जो व्यक्ति परिश्रम से अधिक पारिश्रमिक लेना चाहते हैं, उन्हें आगे चलकर उस पारिश्रमिक से अधिक परिश्रम करना पड़ता है। आज यदि कोई कम परिश्रम करके अधिक पारिश्रमिक ले ले, तो वह कुछ समय के लिए दूसरों की आँखों में धूल झोंक सकता है; किन्तु जब उसका शरीर अधिक परिश्रम करने में समर्थ नहीं रहेगा और पारिश्रमिक भी कम मिलेगा, तब उसे लगेगा कि उस समय मैंने धोखा दिया था, अपने आपको छला था, यदि उस समय ऐसा नहीं करता तो आज मुझे अत्यन्त कष्ट का अनुभव नहीं होता।

यदि मनुष्य ईमानदार है तो वह यही सोचता है कि जितना पारिश्रमिक मुझे चाहिए, उतना ही परिश्रम कर लेता हूँ। यदि परिश्रम करने पर भी मुझे पारिश्रमिक नहीं मिला, तो उसका फल परमात्मा के पास जमा है, जो समय आने पर अवश्य मिलेगा। जैसे कोई सरकारी कर्मचारी सेवा देता है और उसके वेतन से कुछ राशि भविष्य के लिए सुरक्षित रख दी जाती है, जो उसे वृद्धावस्था में प्राप्त होती है। वह व्यक्ति इसका विरोध नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि अभी मैं कार्य करने में समर्थ हूँ, पर जब शरीर कार्य करने में असमर्थ हो जाएगा तब वही संचित धन मुझे सहारा देगा। यदि वह यह कहने लगे कि मुझे अभी ही अधिक वेतन चाहिए और भविष्य की व्यवस्था न की जाए, तो यह दूरदर्शिता नहीं कहलाएगी। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन कमाने की लालसा में पड़ जाए, तो वह अपने जीवन को उलझनों में डाल देता है।

कई लोग आज आवश्यकता न होते हुए भी भविष्य की चिंता में अत्यधिक धन इकट्ठा करते रहते हैं। विलासी जीवन जीने के लिए कम्पनी से लॉन भी ले लिया। जितना धन कमाते हैं, उतना ही उसे व्यर्थ के साधनों में खर्च भी कर देते हैं। इससे न तो उनका श्रम कम होता है और न ही उनका जीवन शांत बन पाता है।

इस संसार का एक अटल सिद्धांत है कि जिसका जो भाग्य है, वही उसे प्राप्त होगा। दूसरे के भाग्य का कोई व्यक्ति एक परमाणु मात्र भी ले नहीं सकता और अपना भाग्य किसी दूसरे को दे भी नहीं सकता। इसलिए मनुष्य

को अपने भाग्य पर विश्वास रखते हुए ईमानदारी से अपना कर्तव्य करना चाहिए।

अनावश्यक धन कमाने के लिए मन को दूषित करना पड़ता है। जब मन दूषित हो जाता है, तब मनुष्य का ध्यान धर्म में नहीं लग पाता। मन में बेईमानी, कपट और स्वार्थ की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगती हैं, जिससे आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

परन्तु यदि मनुष्य ईमानदारी से जीवन जीता है, तो उसका अर्जित धन उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के बाद भी समाज के कल्याण में लग सकता है। ऐसा धन सेवा और उपकार का साधन बन जाता है और अंततः पुण्य का कारण बनता है।

यदि मनुष्य बेईमानी से धन कमाता है, तो उसका शरीर भी धर्म की दिशा में समर्थ नहीं रह पाता। ऐसा धन शरीर को भी अशांत बना देता है। शरीर रोगी हो जाता है, आलस्य बढ़ जाता है और मनुष्य धर्म का कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर पाता।

जब मनुष्य बेईमानी से धन कमाने लगता है, तब उसके शब्दों का भी प्रभाव दूसरों पर अच्छा नहीं पड़ता। इसके विपरीत पाप बढ़ता है, कषाय उत्तेजित होती हैं और उसके वचनों से किसी को भी शांति नहीं मिलती। न किसी को सुख मिलता है, न किसी को प्रेरणा मिलती है। ऐसी स्थिति में उसके वचन भी कटु हो जाते हैं, क्रोध बढ़ जाता है और जीवन में अशांति फैल जाती है। परन्तु यदि मन शुद्ध रहेगा

तो शरीर की प्रवृत्ति भी अनुकूल रहेगी, वचन भी उत्तम होंगे और मन में भी अच्छे विचार उत्पन्न होंगे। जब विचार शुद्ध होंगे तो मनुष्य अनावश्यक धन की इच्छा भी नहीं करेगा और उतना ही खर्च करेगा जितना वास्तव में आवश्यक है।

जैसे एक कुम्हार घड़ा बनाता है। घड़ा बनाने से पहले वह सोचता है कि मुझे किस प्रकार का घड़ा बनाना है, उसके बाद ही वह मिट्टी लाता है। इसी प्रकार एक जुलाहा वस्त्र बनाता है तो जितना वस्त्र बनाना होता है उतना ही सूत लाता है। एक शिल्पकार मूर्ति बनाता है तो जितनी बड़ी मूर्ति बनानी होती है उतना ही पत्थर चुनता है। और एक बढ़ई यदि फर्नीचर बनाता है तो जितना बड़ा फर्नीचर बनाना होता है उतनी ही लकड़ी मंगाता है। उसे कोई चिंता नहीं होती।

यदि कोई व्यक्ति आवश्यकता से अधिक सामग्री एकत्र कर ले, तो वह उसके लिए चिंता का विषय बन जाती है। यदि किसी दर्जी को एक कमीज बनाने के लिए दो मीटर कपड़ा पर्याप्त है और उसे बीस मीटर कपड़ा मिल जाए, तो उसके मन में भी लालच उत्पन्न हो सकता है कि इतना कपड़ा मेरे पास है, इसका क्या करूँ?

इसी प्रकार जब मनुष्य के पास कोई भी वस्तु आवश्यकता से अधिक आ जाती है, तो वह उसके मन को भी विचलित कर देती है। वह उसके विचारों को प्रभावित करती है, उसके व्यवहार को बदल देती है, उसके वचनों को कठोर बना देती है और उसके जीवन की सादगी को भी नष्ट कर देती है। उसकी संगति, आचरण, रहन-सहन-सब पर

उसका दुष्प्रभाव पड़ने लगता है। इसलिए अनावश्यक संग्रह से बचना चाहिए।

महानुभाव! जिस प्रकार एक सड़ा हुआ फल अपने पास रखे अच्छे फलों को भी खराब कर देता है, पूरे माहौल को दुर्गंध युक्त कर देता है, उसी प्रकार बेईमानी से अर्जित धन भी मनुष्य के जीवन को दूषित कर देता है। जब मनुष्य बेईमानी से धन प्राप्त करने लगता है, तो धीरे-धीरे उसका मन भी उसी दिशा में ढल जाता है। यदि मनुष्य अपने खर्चों पर नियंत्रण रखेगा तो उसे अनावश्यक मन की दौड़ नहीं लगानी पड़ेगी।

उसे राजमार्ग छोड़कर गलत रास्तों पर चलने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। दूसरों को देखकर अपने मन में यह भावना नहीं लानी चाहिए कि उसके पास यह वस्तु है और मेरे पास नहीं है। वास्तव में हमें हर वस्तु की आवश्यकता भी नहीं होती। जब आवश्यकता ही नहीं है तो उस वस्तु के अभाव से हमारे कार्य में कोई बाधा भी नहीं आती।

आज व्यक्ति सोचते हैं कि उनके पास मोटर, गाड़ी, बंगला, टेलीफोन और अनेक प्रकार की सुविधाएँ होनी चाहिए। यदि ये नहीं होंगी तो उनका जीवन चल नहीं पाएगा; परन्तु जिनके पास ये सब नहीं है, क्या उनका जीवन चल नहीं रहा है? वास्तव में ऐसा देखा गया है कि जिनके पास भोग-विलास की वस्तुएँ अधिक होती हैं, वे अनेक बार अधिक चिंतित और दु:खी रहते हैं; और जिनके पास साधन कम होते हैं, वे अधिक शांत और संतुष्ट रहते

हैं। सुख का मार्ग अल्प परिग्रह से प्रारम्भ होता है। अधिक संग्रह करने की प्रवृत्ति बहुत कठिन है, क्योंकि संग्रह बढ़ जाने पर उससे आसक्ति भी बढ़ जाती है और उसे छोड़ना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

इसलिए, महानुभाव! आपसे केवल इतना ही निवेदन है कि जो भी व्यय करें, उसे विवेक की कसौटी पर अवश्य परख लें। खर्च करने से पहले स्वयं से पूछें—यह खर्च आवश्यक है या अनावश्यक? उचित है या अनुचित? यदि आपने विवेकपूर्वक खर्च किया, तो निश्चय ही आपको कभी पछताना नहीं पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं किया, तो अधिक धन कमाने के लिए पाप के मार्ग का सहारा लेना पड़ सकता है।

संक्षेप में, यदि खर्च नियंत्रित रहेगा तो आमदनी की चिंता अपने-आप कम हो जाएगी। परन्तु यदि खर्च पर अंकुश नहीं लगाया, तो चाहे कितनी भी आमदनी क्यों न हो, मनुष्य संतुष्ट नहीं हो सकेगा, इसलिए मनुष्य को सदैव यह विचार करना चाहिए—खर्च कब करें, कहाँ करें, कैसे करें और कितना करें।

इन प्रश्नों के उत्तर यदि मनुष्य अपने भीतर खोज ले, तो उसका जीवन अपने-आप शांत, संयमित और संतोषपूर्ण बन जाता है। हम आपके मंगल भविष्य की कामना करते हुए अपनी शब्द श्रृंखला को यहीं विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

दृढ़ संकल्प की शक्ति

महानुभाव! भावनाएँ किसी भी काल में उतना ही महत्व रखती हैं, जितना शरीर में प्राणों का महत्व होता है, अग्नि में उष्णता का, जल में शीतलता का, पुष्प में सुगंध का, इंद्रधनुष में रंगों का और इक्षुदण्ड में मिठास का। परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है कि भावनाएँ बलवती कैसे होती हैं?

जब तक भावनाओं में संकल्प-शक्ति नहीं होती, तब तक वे भावनाएँ धूल के समान होती हैं, जो हवा के साथ इधर-उधर उड़ती रहती हैं। जिस प्रकार समुद्र की लहरें जहाँ से हवा चलती है उसी दिशा में उठती और गिरती रहती हैं, उसी प्रकार संकल्प-शक्ति के बिना भावनाएँ भी स्थिर नहीं रहतीं। अतः यदि हम भावनाओं को बल देना चाहते हैं, उनमें प्राण भरना चाहते हैं, तो संकल्प की आवश्यकता होती है। संकल्प ही भावनाओं के प्राण हैं। "आत्मानुशासन" नामक ग्रंथ में आचार्य भगवन् श्री गुणभद्र स्वामी ने कहा है–**"संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य।"**

अर्थात् कल्पवृक्ष का फल संकल्प करने से मिलता है। यदि मनुष्य किसी भी अच्छे या बुरे कार्य का संकल्प कर ले, तो उसका मन फिर द्वन्द में नहीं भटकता।

विकल्प का अर्थ है 'वि' यानि दो, 'कल्प' यानि कल्पना अर्थात्–दो कल्पनाएँ। जब मन में दो प्रकार की कल्पनाएँ चलती रहती हैं, तब मनुष्य निर्णय नहीं कर पाता

और डगमगाता रहता है। जब तक व्यक्ति विकल्पों के झूले में झूलता रहता है, तब तक वह स्थिर नहीं हो पाता और अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता।

आचार्य गुणभद्र स्वामी कह रहे हैं यदि भावनाओं में प्राण डालना है तो संकल्प को स्वीकार करो। संकल्प लेते ही आधा कार्य पूरा हो जाता है।

यदि किसी कार्य के आरम्भ में ही शुभ संकेत प्राप्त हो जाएँ, अर्थात् उस कार्य का मंगलाचरण अच्छा हो जाए, तो यह माना जाता है कि वह कार्य सफल होगा। जैसे जिनालय प्रतिष्ठा, वेदी प्रतिष्ठा, शिखर प्रतिष्ठा या कलशारोहण प्रतिष्ठा आदि के समय ध्वजारोहण किया जाता है। ध्वजा यदि शुभ दिशा में लहराती है तो कहा जाता है कि अब यह कार्य मंगलमय होकर पूर्ण होगा।

नैमित्तिक ग्रंथों में भी कहा गया है कि यदि ध्वजा पूर्व, उत्तर या ईशान कोण की दिशा में लहराए, अथवा किसी कार्य के पूर्व पानी की दो-चार बूँद आ जाएँ, तो यह शुभ संकेत माना जाता है और विश्वास किया जाता है कि वह कार्य मंगलपूर्वक सम्पन्न होगा।

संकल्प वही कर पाते हैं जिनमें दम-खम होता है। दमखम का अर्थ आपकी भाषा में कहें तो दृढ़ता (Strongness) है। परंतु वास्तव में दम-खम किसे कहते हैं?

हमारे जैनाचार्यों ने दम-खम का बड़ा सुंदर अर्थ बताया है। 'दम' और 'खम'-ये दो शब्द हैं।

दम का अर्थ है इन्द्रियों का दमन, अर्थात् जिसने अपनी पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो। और खम का अर्थ है क्षमा, सहनशीलता तथा उत्तम धैर्य।

जिस व्यक्ति के पास दम और खम होते हैं, वही वास्तव में धर्मधारी और संयमी कहलाता है। वह इन्द्रियों का विजेता होता है और संयम को धारण करने वाला नेता होता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन्द्रियों का दास होता है और कषायों का गुलाम होता है, उसके पास न तो दम होता है और न ही खम।

दम-खम तो उसी के पास होता है जो संयमी होता है, जो अपने भीतर उत्तम क्षमादि धर्मों को प्रकट करता है। ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में दृढ़ और शक्तिशाली कहलाता है। आपकी भाषा में कहें तो वही Strong व्यक्ति है, जिसने अपने ऊपर नियंत्रण स्थापित किया हो।

पैसा कमाना सरल है, परन्तु उस पैसे को सही कार्य में लगाना और अहंकार का पोषण न करना—यह कार्य वही कर सकता है जिसके भीतर दम-खम होता है। जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का उपयोग सही दिशा में करता है, वही वास्तव में दृढ़ व्यक्ति कहलाता है।

संकल्प वे नहीं लेते जिनका मन कमजोर होता है। लोग कहते हैं—"ताली वे नहीं बजाते जिनको कोई गम होता है, ताली तो वे बजाते हैं जिनके हाथों में दम होता है।"

किन्तु हम यहाँ यह कहना चाहते हैं कि संकल्प वे नहीं लेते जिनका मन रोगी होता है, जो वासनाओं के शिकार होते हैं।

संकल्प वे नहीं ले पाते जिनके चित्त में लोभ की अग्नि जलती रहती है, जिनके भीतर क्षण-क्षण में क्रोध उठता रहता है। संकल्प वे भी नहीं ले पाते जिनका मन पीपल के पत्ते की तरह डगमगाता रहता है, जो हर परिस्थिति में अपना रंग बदलते रहते हैं।

संकल्प तो वे लोग लेते हैं जिनका मन कोलाहल से मुक्त और पर्वत के समान अडिग होता है। जिन्होंने एक बार संकल्प ले लिया, वे फिर पीछे नहीं हटते। वे ऐसा प्रण करते हैं कि प्राण भले ही चला जाए, पर लिया हुआ प्रण नहीं टूटे।

प्रण का कितना महत्व है, इसे समझना चाहिए। यदि प्राण में 'प्र' अक्षर और 'ण' अक्षर को हटा दिया जाए तो आ का डण्डा बचा, जिसका कोई महत्व नहीं है। उसी प्रकार जीवन में भी यदि प्रण न हो, तो जीवन की दृढ़ता और मूल्य समाप्त हो जाते हैं। जो अपने प्रण को तोड़ देते हैं, अपनी प्रतिष्ठा को भंग कर देते हैं, नियमों को लेकर छोड़ देते हैं, तो उनके पास केवल डंडा बचता है। वह डंडा खाने के लिए उसे अधोगिति में जाना पड़ता है या तिर्यंच बनकर डंडा खाना पड़ता है। किन्तु जो व्यक्ति अपने प्रण को नहीं तोड़ता, चाहे कितनी ही कठिनाई क्यों न आ जाए, वही वास्तव में दृढ़ और महान कहलाता है। वह कहता है–"मैं अपने प्राण दे सकता हूँ, पर अपने प्रण को नहीं तोड़ सकता।"

ऐसा ही एक उदाहरण राजकुमार वसुभूति का बताया जाता है। वसुभूति राजकुमार ने पंचमी का व्रत लिया था। पहला ही व्रत किया था; दिन तो किसी प्रकार निकल गया, परन्तु रात का समय कठिन प्रतीत होने लगा। पिता ने देखा कि पुत्र को अत्यधिक कष्ट हो रहा है, आकुलता बन रही है। मोहवश पिता ने एक ऐसे कक्ष की व्यवस्था करवा दी, जहाँ चारों ओर रत्नों का प्रकाश फैला हुआ था। वहाँ का वातावरण बड़ा आकर्षक था। पिता ने कहा–"बेटा! रात बीत चुकी है, प्रकाश हो गया है, अब तुम भोजन कर लो।" किन्तु वसुभूति ने उत्तर दिया–"पिताजी! आप मोहवश ऐसा कह रहे हैं, किन्तु अभी तो रात्रि शेष है।"

वसुभूति ने अपना प्रण नहीं तोड़ा, भले ही उसी रात्रि उसके प्राण चले गए। उसी दृढ़ता के कारण आगे चलकर वही नागकुमार बना और अंततः अष्टापद से मोक्ष को प्राप्त किया।

"बाल महाबाल मुनि दोय, नागकुमार मिले त्रय होय।"

ऐसे अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं, जो यह बताते हैं कि प्रण की दृढ़ता मनुष्य को महान बना देती है।

महानुभाव! जो व्यक्ति प्रण कर लेता है, उसके लिए सब कार्य सरल हो जाते हैं। किन्तु संकल्प करते समय अनेक विकल्प सामने आते हैं। कभी मन में विचार आता है कि यदि नियम टूट गया तो क्या होगा? आज संसार में समझाने वाले भी ऐसे हैं जो कहते हैं–"ऐसा नियम क्यों ले लिया?

कहीं ऐसा हो गया तो? वैसा हो गया तो? अथवा क्यों अपने आपको कष्ट दे रहे हो?"

ऐसे समझाने वाले वास्तव में सहायता नहीं करते, बल्कि व्यक्ति को उसके प्रण से डिगाने का प्रयास करते हैं। परन्तु जो व्यक्ति संकल्प का धनी होता है, वह स्पष्ट कह देता है–"नहीं, मैं प्रण ले चुका हूँ, अब इससे पीछे नहीं हटूँगा।"

प्रण नपुंसक नहीं लेते। जो स्त्री यदि भाव से पुरुष वेदी है, वह तो संकल्प ले सकती है। जो स्त्री भाव से भी स्त्री वेदी है, उसका मन कंपायमान रहेगा। जो पुरुष भाव से भी पुरुष वेदी है तब तो संकल्प ले लेगा, यदि भाव से नपुंसक वेदी है तो संकल्प नहीं ले पाएगा, पीछे हट जाएगा। प्रण तो दृढ़ता का प्रतीक होते हैं। जिस व्यक्ति में साहस और दृढ़ता होती है, वही संकल्प ले सकता है। जिसका मन दुर्बल होता है, वह संकल्प नहीं ले पाता।

जो उत्कृष्ट पुरुष हैं, जिन्हें तीर्थंकर जैसा पद प्राप्त करना है, वह धर्मकार्य में सर्वप्रथम नाम लिखाता है। मन में सोचने वाले बहुत होते हैं, परन्तु कार्यरत होने वाले बहुत कम होते हैं।

यदि वसुभूति अपने संकल्प को तोड़ देता, तो संभव था कि वह निम्न गति में चला जाता, तिर्यंचगति में जा सकता था, दुखों को भोगता। वह भोजन करके अजर-अमर नहीं हो जाता। उसने अपने प्रण को नहीं तोड़ा, इसलिए मोक्षपद को प्राप्त हुआ।

भगवान महावीर स्वामी के जीव ने भी पुरुरवा भील की पर्याय में संकल्प किया था कि वे कौवे का मांस ग्रहण नहीं करेंगे। परिस्थितियाँ ऐसी भी आई जब उस नियम की परीक्षा हुई, किन्तु उन्होंने अपना नियम नहीं तोड़ा। इसी दृढ़ता के कारण वे आगे चलकर भगवान महावीर स्वामी के रूप में विख्यात हुए।

इसी प्रकार खादिरसार भील की पर्याय में राजा श्रेणिक के जीव ने भी कौवे के मांस का त्याग करने का नियम लिया था। जीवन में कितनी ही कठिन परिस्थितियाँ क्यों न आईं, उन्होंने अपने उस नियम को नहीं तोड़ा। वे आगे चलकर आगामी चौबीसी में प्रथम महापद्म नाम के तीर्थंकर होंगे।

इससे स्पष्ट होता है कि नियम चाहे छोटा ही क्यों न हो, यदि उसे जीवन भर दृढ़ता से निभाया जाए, विपरीत परिस्थिति में भी उसे तोड़ा नहीं जाए तो उसका फल अत्यन्त महान होता है। उस एक छोटे से नियम के पालन से भी अपार पुण्य का संचय हो जाता है। एक ही नियम से कर्मों की विपुल मात्रा में निर्जरा होती है।

कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोधन के पुत्र सिद्धार्थ जन्म से ही अत्यन्त तेजस्वी और वैराग्य की प्रवृत्ति वाले थे। जब उनका जन्म हुआ, तब ज्योतिषियों और निमित्तज्ञों ने उनकी कुंडली देखकर भविष्यवाणी की कि यह बालक या तो चक्रवर्ती सम्राट बनेगा या फिर संसार त्यागकर दीक्षा ग्रहण करेगा।

महाराज शुद्धोधन को भय हुआ कि कहीं उनका पुत्र वैराग्य की ओर न मुड़ जाए। इसलिए उन्होंने सिद्धार्थ का विवाह शीघ्र ही यशोधरा नामक कन्या से करा दिया और महलों के भीतर ही उनके लिए भ्रमण, मनोरंजन और सुख-सुविधाओं की सभी व्यवस्थाएँ कर दी गईं, ताकि उनका मन संसार में ही रमा रहे और उन्हें वैराग्य का विचार न आए।

समय बीतने पर सिद्धार्थ के यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया। एक दिन सिद्धार्थ ने अपने पिता से निवेदन किया–"पिताजी! मैं एक बार नगर-भ्रमण करना चाहता हूँ। यदि आप मुझे राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहते हैं, तो मुझे एक बार प्रजा और राज्य की स्थिति का अवलोकन करने दीजिए।"

पिता को लगा कि शायद अब उसके मन में राज्य प्राप्त करने की भावना जाग गई है। उन्होंने सोचा–यदि यह राज्य संभाल ले तो उच्च कोटि का राजा बनेगा।

अतः महाराज शुद्धोधन ने अनुमति दे दी। सिद्धार्थ रथ पर सवार होकर नगर-भ्रमण के लिए निकले। उनके साथ अंगरक्षक, परिचारक और मंत्री आदि भी थे।

जब वे नगर के मार्ग से जा रहे थे, तभी उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति बहुत व्याकुल अवस्था में काँपता हुआ चला जा रहा है। यह देखकर सिद्धार्थ ने सारथी से पूछा–"यह क्या है? यह व्यक्ति इस प्रकार क्यों काँप रहा है?"

सारथी ने उत्तर दिया–"महाराज! यह रोग है।"

सिद्धार्थ ने फिर पूछा–"रोग? यह कैसा रोग है जिसमें हड्डी-हड्डी दिख रही हैं, जिसमें व्यक्ति इतना कष्ट पाता है? क्या यह रोग सभी को हो सकता है?"

सारथी ने विनम्रता से कहा–"हाँ महाराज! शरीर में रोग तो किसी को भी हो सकता है।"

यह सुनकर कुमार सिद्धार्थ गंभीर हो गए और बोले–"सारथी! यदि ऐसा है तो क्या मैं भी रोगी हो सकता हूँ?"

सारथी ने विनम्रता से कहा–"महाराज! यह सम्भव है। शरीर है तो रोग भी हो सकता है।"

सिद्धार्थ कुछ क्षण विचार में डूब गए और बोले–''सारथी! मैं रोगी हो गया''। सारथी ने कंधे पर हाथ रखकर कहा–'''युवराज! ऐसा मत कहो, आप रोगी कैसे होंगे, आप तो पुण्यवान हैं।

रथ आगे बढ़ा। कुछ दूरी पर उन्होंने एक और व्यक्ति को देखा। उसके बाल सफेद हो चुके थे, शरीर जर्जर हो गया था और वह बहुत कठिनाई से चल रहा था। सिद्धार्थ ने आश्चर्य से पूछा–"यह कौन है? इसकी यह अवस्था क्यों हो गई है?"

सारथी ने उत्तर दिया–"महाराज! यह वृद्ध मनुष्य है। समय के साथ शरीर बूढ़ा हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है और मनुष्य वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।"

सिद्धार्थ ने फिर पूछा–"क्या मैं भी एक दिन ऐसा ही वृद्ध हो जाऊँगा?"

सारथी ने धीरे से कहा–"हाँ महाराज! यह तो सभी के साथ होता है।"

सिद्धार्थ यह सुनकर और भी चिंतित हो गए। वे बोले– "सारथी! मैं बूढ़ा हो गया। जब वृद्धावस्था से कोई नहीं बच सकता, तो समझो मैं वृद्ध हो गया। सारथी ने कहा–महाराज ऐसा मत कहो।

रथ कुछ और आगे बढ़ा। थोड़ी दूरी पर चार व्यक्ति एक अर्थी लेकर जा रहे थे। सिद्धार्थ ने रथ रुकवाया और पूछा–"यह क्या है?"

सारथी ने कहा–"महाराज! यह एक मृत व्यक्ति है। यह मनुष्य मर चुका है और ये लोग इसे श्मशान में ले जा रहे हैं।"

सिद्धार्थ ने आश्चर्य से पूछा–"मर गया? इसका क्या अर्थ है?"

सारथी ने समझाया–"महाराज! जब किसी मनुष्य का शरीर काम करना बंद कर देता है, प्राण निकल जाते हैं, तब उसे मृत्यु कहते हैं। जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित होती है।"

सिद्धार्थ ने गंभीर स्वर में पूछा–"तो क्या मेरी भी मृत्यु होगी?"

सारथी ने धीमी आवाज में कहा–"हाँ महाराज! यह सत्य है, इस सत्य को कौन नकार सकता है, मृत्यु सबको आती है।"

यह सुनकर सिद्धार्थ अत्यन्त चिंतित हो गए। उन्होंने कहा–''सारथी! मैं मर गया'' सारथी कहता है। ऐसा मत कहो युवराज। सारथी अगर मेरी मृत्यु निश्चित है तो मान लो मैं मर गया। अब रथ को वापस महल की ओर ले चलो। मुझे आगे नहीं जाना।

महल लौटकर सिद्धार्थ ने अपने पिता से कहा–"पिताजी! जब मनुष्य रोगी भी हो सकता है, वृद्ध भी हो सकता है और अंत में मृत्यु को भी प्राप्त होता है, तब क्यों न रोग आने से पहले, वृद्धावस्था आने से पहले और मृत्यु से पहले मैं कुछ ऐसा कर लूँ, जिससे मुझे बार-बार संसार में जन्म-मरण न करना पड़े।

पिता ने बहुत समझाया–मैंने बहुत बड़ी चूक कर दी जो तुझे महल के बाहर भ्रमण करने भेज दिया। बेटा! तुम्हें पूरा राज्य संभालना हैं। नहीं पिताजी! मुझे अब महलों में नहीं रहना। माँ-पत्नी आदि को ज्ञात हुआ, तब उन्होंने भी बहुत समझाया किन्तु सिद्धार्थ के मन में संसार के दु:खों का विचार गहराता गया। अंततः एक रात्रि उन्होंने निश्चय किया कि अब सत्य की खोज के लिए उन्हें घर छोड़ना ही होगा। उसी रात वे अपनी पत्नी और छोटे पुत्र को सोता हुआ छोड़कर गृहत्याग कर निकल पड़े और यथाजात दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली।

मुनि बनकर वे अत्यन्त कठोर साधना करने लगे। जातक ग्रंथों में उन्होंने स्वयं लिखा है—मैं दिगम्बर मुनि रहा। मैंने कई वर्षों तक बहुत कड़ा तप किया। पृथ्वी पर सोता था, एक बार भोजन करता था, सिर और दाढ़ी-मूँछ के बाल उखाड़ता था, पैदल विहार करता था। इतना ही नहीं मैंने उत्कृष्ट ऊनोदर अर्थात् मात्र चावल के दाने का आहार ग्रहण किया। कभी-कभी तो कई-कई दिनों तक अन्न-जल भी नहीं लेता था। जिससे शरीर अत्यन्त कृश हो गया, किंतु दिगम्बर अवस्था की साधना मैं ज्यादा दिन नहीं कर पाया।

बहुत दिनों की कठोर साधना के बाद जब मुझे अनुभव हुआ कि अत्यधिक कठोर तपस्या से भी लक्ष्य प्राप्त नहीं हो रहा है। तब मैंने मध्यम मार्ग को स्वीकार किया—न अत्यधिक भोग, न अत्यधिक तप।

इसी विचार के साथ वे आगे बढ़े। साधना से थकित जब वे महल की ओर लौट रहे थे, तब चलते-चलते वे एक स्थान पर पहुँचे जहाँ एक शांत सरोवर था। तपस्या के कारण उनका कंठ सूख रहा था। वे उस सरोवर के पास पहुँचे और पानी पीने के लिए झुके।

उसी समय उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। एक छोटी-सी गिलहरी बार-बार उस सरोवर में जाती, अपनी पूंछ को भिगोती और फिर बाहर आकर पानी झाड़ देती। वह बार-बार यही कार्य कर रही थी।

सिद्धार्थ ने आश्चर्य से सोचा—"यह गिलहरी ऐसा क्यों कर रही है?" उन्होंने गिलहरी से पूछा—"अरी गिलहरी! तुम बार-बार इस सरोवर में जाकर क्या कर रही हो?"

गिलहरी ने शांत स्वर में उत्तर दिया–"मैं इस सरोवर का सारा पानी सुखा देना चाहती हूँ।"

सिद्धार्थ ने मुस्कुराकर कहा–"इतने विशाल सरोवर को तुम अपने छोटे-से शरीर से कैसे सुखा सकती हो?"

गिलहरी ने दृढ़ता से कहा–"मैंने संकल्प लिया है कि मैं इस सरोवर को सुखाकर ही रहूँगी।"

यह सुनकर सिद्धार्थ कुछ क्षण मौन हो गए। उन्हें उस छोटी-सी गिलहरी के भीतर अद्‌भुत दृढ़ संकल्प दिखाई दिया।

सिद्धार्थ मुस्कुराए। गिलहरी ने कहा–"हँसो मत। हँसने की आवश्यकता नहीं है। इस संसार में हँसने वाले बहुत मिल जाते हैं, पर कार्य करने वाले बहुत कम होते हैं। तुम मुझे गिलहरी समझकर छोटा मत समझो। इस सरोवर ने मेरे बच्चों को निगल लिया है। मैं उन्हें वापस नहीं ला सकती, परन्तु जब तक जीवित हूँ, तब तक इस कार्य को करने का प्रयास अवश्य करूँगी। मैं अपने संकल्प से पीछे नहीं हटूँगी। प्राण भले ही चले जाएँ, पर संकल्प नहीं छोड़ूँगी।"

गिलहरी की यह दृढ़ वाणी सुनकर सिद्धार्थ के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्हें लगा मानो किसी ने भीतर से उन्हें झकझोर दिया हो। वे कुछ क्षण मौन खड़े रहे। जो हाथ पानी पीने के लिए आगे बढ़े थे, वे वहीं रुक गए।

सिद्धार्थ ने सोचा–"एक छोटी-सी गिलहरी अपने संकल्प को नहीं छोड़ती, और मैं मनुष्य होकर भी अपने संकल्प से

डगमगा जाऊँ? नहीं, मुझे भी दृढ़ रहना होगा। मुझे सौ जन्म नहीं चाहिए, यदि एक जीवन भी संकल्प के साथ जीऊँगा तो कल्याण कर लूँगा।

यह विचार आते ही उनके भीतर नई शक्ति जाग उठी। वे वहाँ से उठे और पुनः वन की ओर लौट गए। आगे चलकर उन्होंने अपने संकल्प और साधना के बल से ज्ञान की प्राप्ति की और जगत में महान पुरुष के रूप में प्रसिद्ध हुए।

महानुभाव! संकल्प-शक्ति से कार्य करने वाला व्यक्ति असंभव प्रतीत होने वाले कार्यों को भी संभव बना सकता है। कहा भी गया है-"दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति पत्थर को भी पानी कर सकता है।" संकल्पवान व्यक्ति अपने लक्ष्य से कभी विचलित नहीं होता। वह चाहे कितनी ही बाधाएँ क्यों न आएँ, अंततः अपने लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है।

इसी प्रकार एक राजा ने भी एक बार गंधकुटी में विराजमान विमलवाहन केवली के दर्शन का संकल्प लिया। जब गंधकुटी आयी थी तब राजा को मालूम नहीं पड़ा, राजा दर्शन नहीं कर पाया। और जब ज्ञात हुआ तब तक विमलवाहन केवली का मोक्ष हो गया। किंतु राजा ने संकल्प किया कि मुझे तो उन्हीं केवली के दर्शन, उसी गंधकुटी में करने हैं। लोगों ने कहा-राजन्! अब कैसे दर्शन करेंगे? अब तो केवली को मोक्ष हो गया। राजा ने कहा-मैं नहीं जानता मोक्ष क्या होता है। मुझे तो केवली के दर्शन करने

हैं। लोगों ने उसे बहुत समझाया—"राजन्! यह कार्य असंभव है, इसे करना संभव नहीं है।" किन्तु राजा अपने संकल्प पर अडिग रहा। उसने अन्न-जल का त्याग कर दिया और प्रण किया कि जब तक मुझे गंधकुटी में विराजित उन्हीं केवली के दर्शन नहीं होंगे, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।

सात दिन व्यतीत हो गए बिना अन्न-जल ग्रहण किए, किन्तु राजा अपने प्रण से नहीं डिगा। तब किसी देव ने उसकी भक्ति और संकल्प की दृढ़ता देख नगर के निकट उद्यान में एक कृत्रिम गंधकुटी बनाई और विमलवाहन केवली का रूप बनाकर वहाँ दिखाया। राजा व नगर के लोगों ने केवली के दर्शन किए। किन्तु नगर के लोग यह देख आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने कहा—"ऐसा कैसे हो सकता है। तभी देव ने सबका भ्रम दूर करने के लिए अपनी माया को समेट लिया और लुप्त हो गया। क्योंकि सभी जानते थे कि एक बार मोक्ष होने के उपरांत कोई लौटकर नहीं आता। सभी लोग समझ गए कि ये देव माया है। राजा का नियम पूरा कराने के लिए देव ने उसके संकल्प से प्रभावित होकर यह सब किया है। सब राजा के दृढ़ संकल्प का ही परिणाम है।"

महानुभाव! संकल्प में बहुत बड़ी शक्ति होती है। संकल्प की शक्ति से बड़े-से-बड़े संकट भी दूर हो जाते हैं, देवों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं। संकल्पयुक्त व्यक्ति कभी

पराजित नहीं होता। राह हार सकती है, पर राही अंततः पार हो जाता है।

संकल्प मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी शक्ति है। संकल्प के बिना भावनाएँ दिशाहीन रहती हैं, परन्तु संकल्प के साथ वही भावनाएँ जीवन को महान बना देती हैं। इतिहास और धर्मग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ दृढ़ संकल्प के बल पर मनुष्य ने असंभव प्रतीत होने वाले कार्यों को भी संभव बना दिया।

अतः जीवन में यदि कोई उच्च लक्ष्य प्राप्त करना हो, तो सबसे पहले दृढ़ संकल्प करना आवश्यक है। संकल्पवान व्यक्ति बाधाओं से नहीं घबराता, बल्कि उन्हें पार करके अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। वास्तव में संकल्प ही सफलता और आत्मोन्नति का आधार है। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

पुण्य-पाप का समीकरण

महानुभाव! दिन कभी एक से नहीं रहते, वे निरंतर बदलते रहते हैं। जिस नदी में आज बाढ़ आई हुई है, संभव है कल वही नदी सूख भी जाए। जो नदी आज सूखी पड़ी है, हो सकता है कल उसमें बाढ़ भी आ जाए।

आज जो वृक्ष सूखा दिखाई देता है, संभव है कल उसी वृक्ष पर फिर से हरे-भरे पत्ते और फल लग जाएँ। यही इस जीवन की प्रकृति है। यह जीवन स्थिर नहीं है; यह निरंतर परिवर्तनशील है। जिस प्रकार वृक्ष और हवा का स्वभाव परिवर्तनशील होता है, उसी प्रकार जीवन भी पुण्य और पाप के फल देता रहता है। जीवन में दिन और रात की तरह पुण्य और पाप की धारा निरंतर चलती रहती है।

जीवन में ऐसा कभी नहीं होता कि केवल पाप ही पाप हो और पुण्य का उदय न हो, या केवल पुण्य ही पुण्य हो और पाप का उदय न हो। वास्तव में पुण्य और पाप दोनों साथ-साथ चलते रहते हैं।

बुद्धिमान व्यक्ति वे कहलाते हैं, जो पुण्य के उदय में भी पुण्य का संचय करते हैं। और वे भी बुद्धिमान ही कहलाते हैं, जो पाप के उदय में भी पुण्य का कार्य कर लेते हैं। किन्तु वे व्यक्ति मूर्ख कहलाते हैं, जो पाप के उदय में भी पुण्य नहीं कर पाते और पुण्य के उदय में भी पाप करके अपनी झोली भर लेते हैं।

संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं। पहले वे होते हैं जो पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध करते हैं। दूसरे वे होते हैं जो पुण्यानुबंधी पाप का बंध करते हैं। तीसरे वे होते हैं जो पापानुबंधी पाप का बंध करते हैं, और चौथे वे होते हैं जो पापानुबंधी पुण्य का बंध करते हैं। इन चारों प्रकार के बंधों को समझना अत्यंत आवश्यक है।

1. पुण्यानुबंधी पुण्य

जो व्यक्ति पुण्य के उदय में भी पुण्य का ही संचय करता है, वह पुण्यानुबंधी पुण्य करने वाला कहलाता है। ऐसे व्यक्ति राजा, महाराजा, चक्रवर्ती, इंद्र आदि उच्च पदों को प्राप्त करते हैं और आगे चलकर अल्पकाल में ही मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। अर्थात् जिन्होंने अपने पूर्वजन्म के पुण्य को भी पुण्य के कार्यों में लगाया, उनका पुण्य आगे और बढ़ता जाता है। यही पुण्यानुबंधी पुण्य कहलाता है।

2. पुण्यानुबंधी पाप

कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो पाप के उदय में रहते हुए भी पुण्य का बंध कर लेते हैं।

पूर्व पाप कर्म के उदय से जिसके आज प्रतिकूलता ही प्रतिकूलता है। आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं है। भोजन की बात करें तो यदि चौबीस घंटे में एक बार भी पेट भर भोजन मिल जाए तो वह भी बहुत बड़ी बात है। वस्त्र पूरे शरीर को ढकने में समर्थ नहीं हैं, घर भी समुचित

नहीं है। बारिश के समय में सभी तरफ से पानी आता है, गर्मी के समय में सब तरफ से धूप आती है। और सर्दी के समय सब ओर से ठण्डी-ठण्डी हवा आती है।

ऐसी प्रतिकूल दशा में भी वह व्यक्ति धर्म के कार्यों में संलग्न रहते हैं–जैसे नित्य सामायिक करना, पूजा करना, शील का पालन करना, पर्व के दिनों में उपवास करना, दान देना आदि।

फिर भी पाप पीछा नहीं छोड़ रहा किंतु उसने पुण्य को नहीं छोड़ा। पाप के उदय में भी पुण्य कार्य करने में संलग्न है। ऐसा व्यक्ति पुण्य का संपादन करके स्वर्ग के वैभव को भोगने में समर्थ होता है। शेष बचे पुण्य से राजा-महाराजा बनकर, मुनि दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। जो व्यक्ति पाप के उदय में भी पुण्य के कार्यों में लग जाते हैं, वे वास्तव में प्रशंसनीय हैं। भले ही उनका पूर्व पुण्य अल्प हो, परंतु वे पाप के उदय में भी पुण्य का मार्ग नहीं छोड़ते। इसलिए इसे पुण्यानुबंधी पाप कहा जाता है। ये दोनों ही आत्मा का कल्याण करने में समर्थ होते हैं।

3. पापानुबंधी पाप

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो पाप के उदय में रहते हुए लगातार पाप ही करते रहते हैं। उनका जीवन बुरे कार्यों में ही बीतता है। पाप का उदय चल रहा है। जिस कार्य में हाथ लगाए घाटा ही घाटा लग रहा है। जो कोई भी अच्छा कार्य करने की सोचे तो उससे बुराई ही मिलती है।

पाप के उदय में शरीर भी साथ नहीं दे रहा। कोई सम्मान से बोलता नहीं, घर वाले भी शत्रु जैसा समझते हैं। माता-पिता भी घर से बाहर निकालने को तैयार हैं। पाप का उदय ऐसा कि जहाँ जाओ वहाँ पाप पहले से पहुँच जाता है। किन्तु इस पाप के उदय में उनसे कहो कि भाई! कुछ पुण्य का सहारा ले लो, तो वे कहते हैं—हमसे नहीं होता। भैया! प्रतिदिन मंदिर चले जाया करो, मैं नहीं जा सकता। रात्रिभोज छोड़ दे—वह मुझसे होगा नहीं। अभक्ष्य का त्याग कर दो—मेरे बस का नहीं।

पाप का उदय चल रहा है फिर भी पुण्य के कार्य नहीं कर पा रहा। पाप के उदय में भी पाप के कार्य करने का मन करता है। ऐसा हो जाए कि बस कोई छप्पर फाड़ के दे दे। ऐसा कोई व्यापार हाथ लग जाए कि मैं दिनों-महीनों में ही अरबपति बन जाऊँ। ऐसा हो जाए कि मुझे जमीन में कहीं गढ़ा धन मिल जाए, ऐसा हो जाए कि मेरी किस्मत चमक जाए।

महाराज जी! आप तो बस चमत्कार कर दो, मेरा स्वास्थ्य खराब है, मैं रात्रि भोजन छोड़ नहीं सकता, अभक्ष्य का त्याग नहीं कर सकता, पूजा-पाठ नहीं कर सकता, जाप नहीं लगा सकता; आप तो बस पीछी फेरकर कोई चमत्कार दिखा दो। मैं पुण्य करूँगा नहीं, पाप छोड़ूँगा नहीं। महाराज जी! आप तो कोई पुड़िया दे दो जिससे मेरा सब काम बन जाए। महाराज जी! आप तो परम उपकारी हैं, आपने तो घर-द्वार छोड़ दिया, आप पूरे दिन जाप लगाते हो, हमारे

पास तो ढेर काम हैं। आप तो बस मेरे लिए चमत्कार दिखा दो। ऐसा आलसी व्यक्ति कभी पुण्य का कार्य नहीं कर सकता।

"प्रभु-भजन में आलसी, भोजन को तैयार।
ऐसे पापी जीव को, बार-बार धिक्कार।।"

भगवान का नाम जपने के लिए कहा जाए तो कहते हैं—"मेरे पास समय नहीं है।" परन्तु बाहर चौपाल पर बैठकर आधी रात तक गपशप करना हो तो समय की कोई कमी नहीं होती। टी.वी. खोलकर बैठ गये तो बंद करने का नाम नहीं। समाज में उन्हें सम्मान नहीं मिलता, लोग उनसे दूरी बनाए रखते हैं। यह स्थिति पापानुबंधी पाप की कहलाती है। जो लोग पाप के उदय में केवल पाप में ही लगे रहते हैं, वे जीवन में कभी आगे नहीं बढ़ पाते।

4. पापानुबंधी पुण्य

सबसे ज्यादा दयनीय दशा तो उनकी है, उन पर तरस आता है जिन्होंने पूर्व जन्म में बहुत पुण्य किया, जिसके कारण उसका जन्म किसी लखपति-करोड़पति परिवार में हुआ। सब प्रकार की सुविधाएँ मिली, परंतु यदि वर्तमान जीवन में वह पुण्य नहीं करता, केवल पाप में ही लगा रहता है, तो धीरे-धीरे उसका वैभव भी समाप्त हो जाता है।

कई बार ऐसा होता है कि व्यक्ति स्वयं कुछ नहीं कमाता, उसके दादा या पिता ने कमाया होता है। वह पूर्वजों के पुण्य का फल लेकर जन्म लेता है। उसके जीवन में

सुख-सुविधाओं की कोई कमी नहीं होती, परंतु उसके मन में धर्म के प्रति रुचि नहीं होती।

माता-पिता चाहते हैं कि उसमें अच्छे संस्कार आएँ, परंतु वह उनकी बात नहीं मानता। उसे गाड़ी दिला दी, महँगे साधन दे दिए, वह सब कुछ पा लेता है; किन्तु धर्म-मार्ग की ओर उसका मन नहीं जाता। यदि उससे कहा जाए—"बेटा, मंदिर चलो।" तो घर वाले ही कह देते हैं—"महाराज जी, इसे समय कहाँ है! यह सुबह उठ ही नहीं पाता, रात देर तक बाहर रहता है।" पहले तो माता-पिता ने उसे संस्कार दिए नहीं, अब उसका जीवन भी बर्बाद कर दिया और अपना बुढ़ापा भी बर्बाद कर लिया।

वह व्यक्ति अपने पूर्व जन्म के पुण्य का फल तो भोग रहा होता है, किन्तु वर्तमान जीवन में पाप का संचय करता जा रहा होता है। इसी जीवन में पाप का उदय भी आ सकता है।

ऐसे अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं—ऐसे लोग जिनके पास जन्म के समय करोड़ों की संपत्ति थी, परंतु आज उन्हें पेट भर भोजन भी कठिनाई से मिलता है। इसका कारण यही है कि उन्होंने अपने पूर्वजन्म के पुण्य का सदुपयोग नहीं किया। उन्होंने अपने धन, समय, शक्ति और अवसर का उपयोग धर्म में नहीं किया, इसलिए पाप का संचय बढ़ता गया।

इसके विपरीत ऐसे भी अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनके माता-पिता के पास इतना भी धन नहीं था कि वे अपने

बच्चे का पालन-पोषण ठीक से कर सकें। कभी-कभी तो बच्चे का जन्म भी कठिन परिस्थितियों में हुआ, माता-पिता ने बड़ी कठिनाइयों के बीच उसका पालन किया।

आज वही बालक बड़ा होकर 25-30 वर्ष की आयु में सफल व्यक्ति बन जाता है। उसके पास इतना वैभव होता है कि यदि वह एक करोड़ रुपये भी दान कर दे तो भी उसे कोई विशेष कमी नहीं होती।

एक परिवार में तीन प्राणी थे। माँ, बेटा व एक बेटी। वे बहुत साधारण परिस्थिति में पले-बढ़े थे। घर में दो कटोरी दलिया और सदस्य तीन। बचपन में उन्होंने कठिनाइयाँ देखीं। एक बार वह बालक अपने गाँव की मिट्टी को सिर पर लगाकर बिना किसी को बताए मुम्बई चला गया। वहाँ उसकी किस्मत का सितारा चमका। परिश्रम और सदाचार के बल पर वह आगे बढ़ता गया। आज वही युवक कई बड़ी कंपनियों के मालिक बन गया है।

फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि उसने अपने माता-पिता की सेवा करना नहीं छोड़ा, भगवान की भक्ति करना नहीं छोड़ा। चाहे भोजन समय पर मिला या नहीं, किन्तु कभी ईमानदारी का साथ नहीं छोड़ा।

सन् 1982 में मुरैना से दिल्ली एक व्यक्ति नौकरी की तलाश में आया। उसने मात्र पन्द्रह हजार रुपये मासिक वेतन की नौकरी स्वीकार की। आज वही व्यक्ति कम से कम 50 हजार करोड़ रुपये की संपत्ति का मालिक माना जाता है।

महानुभाव! मनुष्य को अपने पुण्य पर विश्वास करना चाहिए। जीवन में किया हुआ पुण्य कभी भी किसी को धोखा नहीं देता। चाहे दिन में या रात में, अकेले में या सबके सामने—जो कुछ भी आपने पुण्य किया है, चाहे मन से किया, वचन से किया या शरीर के माध्यम से किया हो, उसका फल अवश्य प्राप्त होता है। संसार की कोई भी शक्ति व्यक्ति को उसके पुण्य के फल से वंचित नहीं कर सकती; परन्तु एक बात और भी ध्यान रखने योग्य है—जब किसी व्यक्ति के जीवन में पुण्य का उदय आता है, तब भी उसे अहंकार नहीं करना चाहिए। कभी-कभी लोग अपने वैभव के कारण गरीबों को तुच्छ समझने लगते हैं। यदि कोई गरीब व्यक्ति सहायता माँगने आ जाए तो उसे डाँट-फटकार कर भगा देते हैं, जबकि उनके लिए आर्थिक सहायता करना कोई बड़ी बात नहीं होती।

ऐसा व्यवहार करने वाला व्यक्ति अपने पुण्य के प्रभाव को समझ नहीं पाता। वह भूल जाता है कि जो कुछ उसे प्राप्त हुआ है, वह उसके पूर्वजन्म के पुण्य का परिणाम है। किन्तु ऐसे व्यक्ति भी बहुत हैं जो कहते हैं कि "मंदिर का एक चावल का दाना भी मेरे घर आ न जाए। यदि भूल से आ भी जाए तो उसे हाथ तक नहीं लगाते।" यह आश्चर्य की बात है कि कुछ लोग पुण्य का फल भोगते हुए भी पाप के कार्य करने लगते हैं।

महानुभाव! मैं अपनी अंतरात्मा से उन पुण्यात्माओं की प्रशंसा करता हूँ जो चाहे पाप का उदय चल रहा हो या

पुण्य का–फिर भी वे धर्ममार्ग से नहीं हटते। वे वास्तव में महान पुण्यात्मा होते हैं। उनके हृदय में भगवान के प्रति सच्ची श्रद्धा होती है। वे विनम्र भाव से भगवान के चरणों में अपना शीश झुकाते हैं और भक्ति करते हैं।

ऐसे पुण्यात्मा लोग धन्यभागी हैं जिनके पास जिनेन्द्र भगवान के चरण स्पर्श करने का समय है। जिनका हाथ तीन लोग के नाथ के ऊपर पहुँच जाता है, जो भगवान का अभिषेक कर पाते हैं। वे लोग कितने पुण्यात्मा हैं जिनके पास मुख में देने के लिए भले ही ग्रास न हों पर भगवान के पास चढ़ाने के लिए मुट्ठी भर चावल अवश्य हैं। उसके घर में कभी कमी नहीं आ पाती।

इसी संदर्भ में एक व्यक्ति का उदाहरण मिलता है, जिसका नाम रामदास था। वह जंगल में रहता था और निरंतर भगवान का भजन करता रहता था। भोजन की आवश्यकता होने पर वह कभी-कभी गाँव में आता और फिर वापस जंगल चला जाता।

उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर एक दिन किसी वन देवता ने भगवान राम का रूप धारण कर उसे दर्शन दिए। वह भक्ति कर रहा है, और उसका आनन्द रोम-रोम से प्रकट हो रहा हैं परन्तु रामदास इस बात को पचा नहीं पाया। उसने अपने पास आने वाले लोगों से कह दिया कि भगवान ने मुझे दर्शन दिए हैं।

लोगों ने कहा–"यदि भगवान ने तुम्हें दर्शन दिए हैं तो हमें भी दर्शन करा दो।"

यह बात फैलते ही अनेक लोग जंगल में रामदास के पास पहुँचने लगे। रामदास ने पूरी श्रद्धा से भगवान का भजन किया, परन्तु भगवान राम प्रकट नहीं हुए। धीरे-धीरे लोगों का उत्साह कम होने लगा। वे एक-एक करके लौटने लगे। अंत में रामदास अकेला रह गया।

रामदास रोते हुए बोला—"भगवान! आपने मेरी बात का मान क्यों नहीं रखा? आपने लोगों को दर्शन क्यों नहीं दिए? आपने जब मुझे पहले दर्शन दिए थे तो आज भी दे देते और आज नहीं देने थे तो पहले दर्शन क्यों दिए?

यह कहते-कहते उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। उन आँसुओं ने उसके भीतर के अज्ञान का अंधकार धो दिया। उसका अंतःकरण निर्मल हो गया और भीतर से सच्ची भक्ति प्रकट हो उठी। इतने में भगवान राम प्रकट हो गए।

रामदास ने जैसे ही भगवान को देखा, वह उनके चरण पकड़कर रोने लगा और कहने लगा—"प्रभु! आपने पहले दर्शन क्यों नहीं दिए? जब सब लोग आए थे, तब क्यों नहीं प्रकट हुए?"

भगवान राम मुस्कुराकर बोले—"रामदास! उन लोगों के पास इतना पुण्य नहीं था कि वे मेरे दर्शन कर सकें, इसलिए मैंने उन्हें दर्शन नहीं दिए। परंतु तुम्हारा पुण्य प्रबल था, इसलिए मैं तुम्हें दर्शन देने आया हूँ।"

रामदास ने फिर पूछा—"प्रभु! यदि ऐसी बात है तो आप मुझे तो दिखाई दे जाते, सबको न देते। भगवान बोले—फिर

तेरी बात का विश्वास कौन करता? मैं तुझे दिखाई दे जाता, उन्हें नहीं, तो वे मानते ही नहीं। रामदास उलाहना देते हुए फिर बोला—आपको मालूम है कि पिछले अठारह घंटे हो गए मुझे खड़े-खड़े, आपकी भक्ति करते हुए, फिर भी आपने दर्शन नहीं दिए?"

भगवान ने कहा—"रामदास! तू एक दिन मेरी भक्ति में अठारह घंटे खड़ा हो गया तो उलाहना देने लगा, मैं तुम्हारे हृदय के द्वार पर चौबीस घंटे खड़ा रहता हूँ। लेकिन तुमने कभी उस द्वार को खोला ही नहीं, मैंने तो कभी तुम्हें उलाहना नहीं दिया। भक्ति हृदय से प्रकट होती है, उस भक्त का ध्यान भगवान चौबीस घंटे रखते हैं।

महानुभाव! कौन किसका ध्यान रखेगा? ध्यान रखता है हमारा पुण्य। बिना पुण्य के इस संसार में कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

जब पुण्य का उदय होता है तो दु:ख के बाद भी सुख प्राप्त हो जाता है। और जब पाप का उदय होता है तो जो व्यक्ति सोने के पालने में झूलता है, वह भी अंतत: कष्टों में पड़ सकता है।

यदि पुण्य का उदय होगा तो शत्रु के घर में भी तुम्हारी पूजा हो जाएगी, और पाप का उदय है, तो जो माँ गर्भ में धारण करती है, वह भी लात मारकर बाहर निकाल देगी। पाप के उदय में अपने ही शत्रु बन जाते हैं।

इसलिए वे लोग वास्तव में महान हैं जो पुण्य के उदय में भी पुण्य का संचय करते हैं। ऐसे महान व्यक्तियों में

अभयकुमार, भरत चक्रवर्ती, बाहुबली, राजा श्रीषेण आदि के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने पूर्व पुण्य के उदय से महान वैभव प्राप्त किया। पुनः दीक्षा लेकर सिद्धपद प्राप्त कर लिया।

कई लोगों ने पाप के उदय में भी पुण्य का बंध किया और महान पद प्राप्त किया। उदाहरण के लिए मृगसेन धीवर जिसने अहिंसा व्रत का पालन किया, मृत्यु को प्राप्त कर देव बना। यमपाल चाण्डाल जिसने नियम लिया कि चतुर्दशी के दिन किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा। जब उसकी परीक्षा हुई तब भी उसने अपने नियम का त्याग नहीं किया और अंततः उसें देवों द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि पाप का उदय रहते हुए भी जिन्होंने पुण्य का आचरण किया, उन्होंने देवगति प्राप्त की और आगे चलकर महान वैभव प्राप्त किया।

इसी प्रकार ऐसे जीव भी मिलते हैं जो पाप के उदय में पाप का ही बंध करते हैं। ऐसे लोग चारों ओर दिखाई देते हैं। वे संसार में भटकते रहते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि पापरूप कार्यों में ही लगी रहती है। और कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो पुण्य के उदय में भी पाप करते हैं। उदाहरण के रूप में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, सुभौम चक्रवर्ती जैसे पुरुषों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने पूर्व पुण्य से राजवैभव तो प्राप्त किया, परंतु आगे चलकर अधोगति को प्राप्त हुए।

महानुभाव! एक बात सदैव स्मरण रखिए—आपको जब भी सुख मिलेगा, वह आपके अपने पुण्य से ही मिलेगा।

दूसरे की दौलत से नहीं, और जब भी शांति मिलेगी, वह भी अपने शांत परिणामों से ही मिलेगी।

संसार की सारी दौलत भी मनुष्य को शांति नहीं दे सकती। शांति तो तभी मिलती है जब भीतर के परिणाम शांत हो जाते हैं। जब मनुष्य राग-द्वेष से मुक्त होकर समता में स्थित होता है, तभी उसे वास्तविक शांति प्राप्त होती है।

सिकंदर विश्व विजेता बनने चला था, खूब दौलत इकट्ठी की, किन्तु खाली हाथ, बैरंग ही इस दुनिया से चला गया। इस संसार में कोई भी व्यक्ति अपने भाग्य से अधिक भोग नहीं सकता और उसके भाग्य का फल कोई छीन भी नहीं सकता। इसलिए मनुष्य को सदैव पुण्य के कार्यों में तत्पर रहना चाहिए ओर पुण्य निमित्तों के बीच रहने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

यदि पुण्य की चाबी आपके भाग्य में लग जाए, तो समझ लीजिए कि आपके लिए सभी द्वार खुल गए हैं। वास्तव में सम्यक् पुण्य ही सम्यक् मार्ग, सम्यक् दिशा और सम्यक् फल देने वाला होता है। वही पुण्य अंततः मनुष्य को परम सुख और मोक्ष की ओर ले जाता है।

आप सभी का मंगल हो, कल्याण हो और आप जीवन में उत्तम पुण्य के अधिकारी बनें। इन्हीं शुभकामनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

सतरंगी इंद्रधनुषमय जीवन

महानुभाव! जीवन अनेक रंगों से बनी हुई एक सुंदर तस्वीर है। कब कौन-सा रंग उभरकर सामने आ जाए, कब कौन-सा रंग चमक उठे और कब कौन-सा रंग धुंधला पड़ जाए—यह हम नहीं जान पाते। परंतु इन सभी रंगों का जीवन में अत्यंत महत्त्व है। जैसे किसी के गले में केवल मोतियों का हार हो तो वह उतना आकर्षक नहीं लगता, केवल मूंगे का हो तो भी विशेष सुंदर नहीं लगता, और केवल पन्ना, नीलम या एक ही रत्न का हार भी उतना मनोहर नहीं होता। परंतु जब उसी हार में विभिन्न रत्नों को सजाया जाता है, तब उसकी शोभा कई गुना बढ़ जाती है।

इसी प्रकार भोजन में यदि केवल एक ही प्रकार की सब्जी हो तो वह साधारण लगता है, भले ही वह कितनी ही पौष्टिक क्यों न हो। किंतु जब थाली में चार-पाँच प्रकार की सब्जियाँ और विविध व्यंजन परोसे जाते हैं, तब मनुष्य विभिन्न स्वादों का आनंद लेकर अधिक संतुष्ट होता है।

यदि किसी का जीवन भी केवल एक ही प्रकार से चलता रहे, उसमें कोई विविधता न हो, तो वह नीरस और बोझिल हो जाता है। इस जीवन के आकाश में कभी सफलता के बादल उमड़ते हैं, तो कभी असफलता की छाया छा जाती है; कभी सुख का प्रकाश चमकता है, तो कभी दु:ख का अंधकार दिखाई देता है।

कभी जीवन के क्षितिज पर शीतल समीर बहती है, तो कभी आकाश लालिमा से युक्त दिखाई देता है; कभी आकाश श्वेत प्रतीत होता है, तो कभी नीला। जब यही आकाश विभिन्न रंगों से युक्त दिखाई देता है, तब वह अत्यंत मनोहारी लगता है। प्रकृति का यह अद्‌भुत वैभव व्यक्ति को आनंदित कर देता है। उसे देखते ही मन का तनाव दूर हो जाता है और हृदय आनंद से भर उठता है; परंतु यदि सदा एक जैसा ही आकाश रहे—केवल धूप ही धूप हो, या केवल वर्षा ही होती रहे, या आकाश में सदा बादल ही छाए रहें—तो वह भी अच्छा नहीं लगता। ऐसा एकरूप वातावरण दुर्दिन जैसा प्रतीत होता है और अंततः नीरस हो जाता है।

महानुभाव! हमारे जीवन में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। हमारे जीवन के इस इंद्रधनुष में भी अनेक रंग समाए हुए हैं। इन्हीं रंगों से जीवन शोभायमान बनता है और देखने वाले को भी सुंदर प्रतीत होता है।

जब हमारे जीवन में सुख आता है तो हम प्रसन्न हो जाते हैं, और सामने वाला भी जब हमारे जीवन को संतुलित व शांतिपूर्ण देखता है, तो वह भी आनंद का अनुभव करता है। इन्हीं अनेक रंगों के कारण यह जीवन सतरंगी इंद्रधनुष की भाँति शोभायमान प्रतीत होता है।

आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज ने सत्यशासन परीक्षा ग्रंथ की प्रस्तावना में एक अत्यंत सुंदर बात कही है—

"न्यायार्जित धनस्तत्त्वः, ज्ञाननिष्ठोतिथिप्रियः।
वैरागी सत्यवादी च, गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥"

इतनी सुंदर बात मानो गृहस्थ के लिए वरदान के समान है। गृहस्थ की पीठ थपथपाते हुए यह कहा गया है—"घबराओ मत, तुम भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हो।"

जैसे आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज बालकों को भी आशीर्वाद देते हुए कहते थे—"तुम श्रद्धावान बनो, तो हमारी दृष्टि में तुम चक्रवर्ती से भी बढ़कर हो। यदि चक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि है, तो उसका नम्बर तुम्हारे बाद है; तुम यदि प्रतिमाधारी हो, तो आपकी गिनती अग्रिम पंक्ति में है।

महानुभाव! यहाँ आचार्य महोदय ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण वरदान दिया कि—"गृहस्थोऽपि विमुच्यते"—अर्थात् गृहस्थ भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

इस संसार में तीन प्रकार के जाल हैं। यदि व्यक्ति इन तीनों जालों से बच जाए, तो उसका कल्याण निश्चित है। जैसे मछली एक जाल में फँस जाती है तो अपने प्राण खो देती है, पक्षी जाल में फँसकर अपने जीवन को संकट में डाल देता है, और अपनी आत्मा तो तीन-तीन जालों में फँसी है। आध्यात्मिक भाषा में इन्हें कहा गया है—द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म। और सामान्य भाषा में कहें तो—संसार, शरीर और भोग। इन तीनों के जाल में फँसी हुई आत्मा उसी प्रकार तड़पती है, जैसे किसी के शरीर में तीर आर-पार हो जाए तो वह पीड़ा से व्याकुल हो उठता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी भोगों और आसक्तियों के कारण निरंतर तड़पती रहती है।

यह आत्मा शरीर के प्रति आसक्त होकर अपनी चेतना के स्वरूप को भूल जाती है और बार-बार संसार में जन्म-मरण का चक्र चलाती रहती है। पुनः पुनः संसार का संवर्धन करती है, पाप का उपार्जन करती है। इस प्रकार वह निरंतर कर्मों का बंध करती रहती है। परंतु आचार्य महोदय यहाँ कुछ बातें ऐसी कह रहे कि—मनुष्य यदि चाहे, तो इन तीनों जालों से मुक्त भी हो सकता है।

अनेक आचार्यों ने दान, पूजा, शील और उपवास आदि के विषय में कहा है—

देवपूजा दया दानं, तीर्थयात्रा जपस्तपः।
श्रुतं परोपकारत्वं, मर्त्यजन्म फलाष्टकम्॥

अनेक आचार्यों ने श्रावकों के लिए देवपूजा, दान, गुरुउपासना, संयम, तप आदि गाथाएँ कहीं किन्तु यहाँ आचार्य महोदय की विवक्षा अलग है। उन्होंने श्रावकों के लिए पहला कर्त्तव्य कहा—**''न्यायार्जित धनस्तत्त्वः''** यदि वास्तव में आप संसार से मुक्त होना चाहते हैं, यदि दुःखों से छुटकारा पाना चाहते हैं, तो सबसे पहले अपने जीवन में यह दृढ़ संकल्प कीजिए—"मैं अन्याय से प्राप्त एक भी पैसा अपने घर में प्रवेश नहीं करने दूँगा।"

अपने जीवन में यह नियम बना लीजिए कि चाहे कैसी भी परिस्थिति क्यों न आ जाए—भूख लगे तो सह लेंगे, प्यास लगे तो सह लेंगे, परंतु अन्याय का धन कभी ग्रहण नहीं करेंगे। क्योंकि जहाँ अन्याय का पैसा आता है, वहाँ साथ में अनेक बुराइयाँ भी प्रवेश कर जाती हैं—घर में

अशांति आती है, विवाद बढ़ते हैं, एक–दूसरे के प्रति द्वेष और छल–कपट उत्पन्न होता है, और अंततः वही धन हमारे जीवन की शांति को छीन लेता है। अन्याय का धन टिकता भी नहीं–जैसा आता है, वैसा ही चला जाता है। वह अपने साथ दुःख और क्लेश का बीज छोड़ जाता है।

श्राद्ध का पावन समय था, शुक्ल पक्ष था। किसी वेश्या ने सोचा कि मैं भी शुद्ध हो जाऊँ, यह सोचकर वह गंगा तट पर पहुँचकर साधुओं की तलाश करने लगी। वहाँ एक भांड भोजन की लालसा में राम चदरिया ओढ़कर बैठा हुआ था। वेश्या ने उसे साधु समझकर आदरपूर्वक अपने घर भोजन के लिए आमंत्रित कर लिया और बड़े श्रद्धा भाव से उसे खूब खीर–पूड़ी आदि व्यंजन खिलाए। जब पक्ष पूर्ण हो गया तो उसने कहा–''महात्माजी! मुझे आशीर्वाद दीजिए।'' वह बोला–''आशीर्वाद किस बात का?'' वेश्या ने कहा–''महात्मा जी! मैंने आपको श्रद्धापूर्वक भोजन कराया है। दान–दक्षिणा भी दी है। इस सेवा से मुझे पुण्य प्राप्त होगा, मैं तिर जाऊँगी, वैसे मैं तो वेश्या हूँ। बस आप आशीर्वाद दीजिए। तब वह साधु वेशधारी भांड बोला–

सोलह तिथि पूरी भयी, खायी खीर और खांड।
पौ को धन पौ में गयो, तुम वेश्या मैं भांड।।''

अर्थात् जैसा तेरा धन था, वैसा ही चला गया। तुम क्या समझती थी, मैं कोई साधु हूँ। पाप का धन, पाप में ही चला गया।

महानुभाव! यदि धन अन्याय से आया है, तो वह टिकेगा नहीं–जैसे आया है, वैसे ही चला जाएगा।" वास्तव में–पाप से कमाया हुआ धन अंततः नष्ट हो जाता है, और परिश्रम व पुण्य से कमाया हुआ धन ही स्थायी सुख देता है। यदि पूरे विश्व की समस्त शक्ति भी मिल जाए, तो भी वह ईमानदारी और परिश्रम की कमाई को पचा नहीं सकती। आप अपने धन को चौराहे पर डालकर आ जाओ। अगर वह धन ईमानदारी का है तो कोई भी आपके धन को उठाकर नहीं ले जा सकता। अगर ले जाएगा तो घर वापस देने आएगा।

एक नगर में एक जुलाहा रहता था। वह अत्यंत ईमानदार था और अपने हाथों से बुने हुए कंबल बेचकर अपना जीवन यापन करता था। एक दिन एक व्यापारी उसके पास आया और उससे एक कंबल खरीद लिया। कंबल लेते समय उसने कहा–"इसका मूल्य मैं तुम्हें एक सप्ताह बाद दे दूँगा।"

जुलाहे ने सरलता से उत्तर दिया–"ठीक है, यदि आपको सुविधा हो तो एक सप्ताह बाद दे दीजिए।" कुछ दिनों बाद जुलाहा उस व्यापारी के पास गया और विनम्रता से अपना पैसा माँगा। व्यापारी ने फिर वही बात दोहराई–"अभी मेरी मजबूरी है, कुछ समय बाद दे दूँगा।" इस प्रकार वह टालता रहा। जुलाहा बार-बार जाता, परंतु उसे केवल टालने वाले उत्तर ही मिलते रहे।

एक दिन जब जुलाहा फिर पैसे माँगने पहुँचा, तो व्यापारी ने साफ मुकरते हुए कहा–"कौन-सा कंबल? कैसा कंबल? मैं तो तुम्हें जानता तक नहीं!" जुलाहा यह सुनकर स्तब्ध रह गया। वह बहुत ईमानदार था, उसने सोचा–"यह व्यक्ति मेरे साथ अन्याय कर रहा है।" अंततः वह न्याय के लिए राजा के पास पहुँचा और अपनी पूरी बात निवेदन कर दी। राजा ने व्यापारी को दरबार में बुलवाया और उससे पूछा–"क्या तुमने इस जुलाहे से कंबल लिया था?" व्यापारी ने निर्लज्जता से उत्तर दिया–"महाराज! मैं इसे जानता तक नहीं। मैंने इससे कोई कंबल नहीं लिया।" राजा ने जुलाहे से कहा–"क्या तुम्हारे पास कोई प्रमाण है?"

जुलाहा बोला–"महाराज! यदि अनुमति हो तो मैं इसका प्रमाण दे सकता हूँ।" राजा ने आज्ञा दी। तब जुलाहे ने कहा–"महाराज! अमुक व्यक्ति के सामने मैंने इस व्यापारी को कंबल दिए थे। उस व्यक्ति को बुलाया गया। उसने कहा–हाँ दिए तो थे। व्यापारी हड़बड़ाया और बोला–''मेरे पास तो प्रतिदिन बहुत माल आता है, मुझे याद नहीं इसने कंबल दिए हैं। यदि दिया भी होगा तो कुछ दिनों पहले मेरे गोदाम में आग लग गई, सारा माल जल गया। हो सकता है इसका कंबल भी आग में जल गया हो। जुलाहा बोला–महाराज! यदि यह व्यापारी सत्य बोल रहा है, तो मैं अपने पैसे छोड़ने को तैयार हूँ। परंतु "महाराज! मेरा कंबल कभी जल नहीं सकता। राजा आश्चर्यचकित होकर बोला–"यह कैसी बात कर रहे हो? कंबल तो आग में जल ही जाता है!" जुलाहा शांत स्वर में बोला–"महाराज!

यह सामान्य कंबल नहीं था। यह मेरी ईमानदारी, परिश्रम और सत्य की कमाई से बना हुआ था। ऐसा कंबल जल नहीं सकता।

जुलाहे की बात सुनकर राजा ने कहा–"यदि तुम ऐसा कहते हो, तो हम इसकी परीक्षा अवश्य करेंगे।" दरबार में तुरंत व्यवस्था की गई। एक बड़े पात्र में कंबल रखा गया, उस पर तेल डाला गया और आग लगा दी गई। सभी लोग उत्सुकता से देखने लगे–कंबल धधक कर जलने लगा। किन्तु राजा ने ध्यान से देखा–जल रहा था केवल उस पर डाला गया तेल। कंबल नहीं जला। राजा भाव-विभोर हो गया और बोला–"सच है, ईमानदारी कभी नष्ट नहीं होती। सत्य कभी जलता नहीं।" राजा को विश्वास हो गया कि यह जुलाहा अत्यंत ईमानदार है। वह प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार देना चाहता था। परन्तु जुलाहा विनम्रता से बोला–"महाराज! मैं अपनी मेहनत का ही खाता हूँ। मुझे किसी प्रकार का पुरस्कार नहीं चाहिए। ईमानदारी ही मेरे लिए सबसे बड़ा धन है।"

महानुभाव! ऐसे अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं–कई बार किसी व्यक्ति की खोई हुई वस्तु वर्षों बाद मिल जाती है, कभी कोई अमूल्य वस्तु रास्ते में गिर जाती है और कोई सज्जन व्यक्ति उसे ईमानदारी से लौटा देता है। ईमानदार व्यक्ति कभी दूसरों का धन नहीं चाहता। वह जानता है कि–"अन्याय से प्राप्त धन, अंततः दुःख ही देता है।" जो धन ईमानदारी से कमाया जाता है, तो विश्वास रखो, तुम्हारा

धन कोई भोग नहीं सकता। यदि वह तुम्हारे भाग्य का है तो भागकर तुम्हारे पास आएगा।

बेईमानी से कमाया हुआ धन कभी स्थायी नहीं होता–वह चला ही जाता है। चाहे डॉक्टर के पास जाए, वकील के पास जाए, पुलिस के पास जाए या किसी और के पास जाए किन्तु आप उसे भोग नहीं पाओगे। इसलिए जीवन में कभी चोरी नहीं करना, न सेलटैक्स की, न इनकमटेक्स, किसी की नहीं। आपको ईमानदारी से बहुत मिलेगा। आप सोचते हैं, झूठ नहीं बोलेंगे तो व्यापार चलेगा नहीं, पेट भरेगा नहीं। अरे! जब झूठ बोलने से पेट भर सकता है तो क्या सत्य बोलेने से पेट नहीं भरेगा। सत्य बोलने वाला कोई व्यक्ति आज तक भूखा नहीं मरा। आपने एक कहावत सुनी होगी–''**पानी का धन पानी में, नाक कटी बेईमानी में।**''

एक दूध बेचने वाली स्त्री प्रतिदिन नदी पार करके दूध बेचने जाया करती थी। धीरे-धीरे उसके मन में लालच उत्पन्न हुआ–"यदि मैं दूध में थोड़ा पानी मिला दूँ, तो मेरी कमाई बढ़ जाएगी।" वह प्रतिदिन दूध में पानी मिलाने लगी और उसकी आय बढ़ने लगी। कुछ समय बाद उसने उस धन से सोने की नथ (नाक की बाली) बनवा ली। एक दिन वह नथ पहनकर नदी पार कर रही थी। तभी अचानक किसी बंदर ने उसे देखा और नाक पर झपट्टा मारा, जिससे उसकी नथ पानी में गिर गई। और उसकी पूरी नाक लहुलुहान हो गई। तब उसे समझ आया–"पानी का धन पानी में ही चला गया।" और नाक अलग से कट

गई। उसे अपनी भूल का एहसास हुआ कि–''बेईमानी से कमाया हुआ धन टिकता नहीं, वह नष्ट हो जाता है।''

महानुभाव! एक बार एक ग्वाला जंगल में गाय चराने जाया करता था। एक दिन उसे जंगल में एक चमकता हुआ सोने का कलश दिखाई दिया। उसे देखकर उसके मन में विचार आया–"यह तो भगवान ने मुझे दिया है, इसे घर ले जाकर अपना जीवन सुधार लूँगा।" तभी उसे अपनी पत्नी की बात याद आई, वह कहती थी–"हमें लालच नहीं करना चाहिए। यदि भाग्य में होगा तो अपने आप मिलेगा।" देने वाला छप्पर फाड़ कर दे देगा। वह कलश वहीं छोड़ आया और घर आकर अपनी पत्नी को सारी बात बताई।

उसी समय चतुर पड़ोसिन ने उनकी बातचीत सुन ली। वह अपने पति के पास गई और बोली–"सुनो जी! हम एक दिन में ही मालामाल हो सकते हैं। पति बोला–कैसे? वह बोली–''हमारे पड़ोसी तो मूर्ख हैं, जो हाथ आई लक्ष्मी को छोड़ आए। तुम एक काम करो, जंगल जाकर अमुक स्थान पर रखे स्वर्ण कलश को ले आओ। उसमें हीरे, जवाहरात भरे हैं। पति ने वैसा ही किया। वह रात में जाकर कलश ले आया। घर आकर जैसे ही उसने कलश खोला, तो उसमें साँप और बिच्छू भरे हुए थे। उसने सोचा–लगता है पड़ोसिन को पता था कि मैं उनकी बातें छिपकर सुन रही हूँ। इसलिए मनगढ़ंत तरीके से बातें कर रहे थे। वे चाहते थे कि साँप-बिच्छू हमें खा लें। चलो, अब इनकी करनी का फल इन्हें ही देते हैं।

रात में पति–पत्नी दोनों छत पर गए। घास–फूस का छप्पर था उसे हटाया और उस ग्वाले के यहाँ वो कलश उढ़ेल दिया। जैसे ही कलश उढ़ेला तो स्वर्ण–चाँदी–हीरे–मोती का ढेर उस ग्वाले के आँगन में लग गया। तब से ये कहावत हुई–''देने वाला देता है तो छप्पर फाड़कर देता है।'' और लेने वाला लेता है तो चमड़ी उधेड़ कर लेता है। एक घटना है–

महानुभाव! मध्यप्रदेश के पन्ना जिले में, जहाँ हीरा अधिक निकलते थे; एक परिवार निवास करता था। धीरे–धीरे उनकी संपत्ति बढ़ती जा रही थी, किन्तु वह संपत्ति सत्य और ईमानदारी से अर्जित नहीं थी। भीतर ही भीतर एक भय भी साथ–साथ बढ़ रहा था कि कहीं यह धन उनसे छिन न जाए। कहीं समय खराब न आ जाए। कहीं धन चोरी न हो जाए। इसलिए उस धन को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने एक विचित्र उपाय अपनाया। कुछ हीरे अपनी जंघा में प्लास्टिक सर्जरी के माध्यम से छिपा लिए।

यह रहस्य उसने किसी को नहीं बताया, किन्तु बार–बार डॉक्टर के पास जाने से उसके भाई को संदेह होने लगा। एक दिन उसने डॉक्टर से पूछताछ की। प्रारंभ में डॉक्टर ने टालना चाहा, परन्तु सत्य अधिक समय तक छिप नहीं सकता। अंततः यह स्पष्ट हो गया कि उसके भाई ने अपने शरीर में धन छिपाकर रखा है।

यह जानकर भाई के मन में क्रोध, संशय और भय का तूफान उठ खड़ा हुआ। रात के अंधकार में वह अपना विवेक खो बैठा। क्रोध में अंधा होकर वह पाँच–सात

बदमाशों को लेकर घर आया और आधी रात को अपने भैया–भाभी को मरवा दिया। उस समय वहाँ उनके साले की बेटी आई हुई थी। उसने यह सब देख लिया और डरकर छत पर जाकर दरवाजा बंद कर लिया।

प्रातःकाल जब पुलिस पहुँची तो सब कुछ रहस्यमय प्रतीत हो रहा था–किसी को समझ नहीं आ रहा था कि यह सब कैसे हुआ। धीरे–धीरे जांच आगे बढ़ी। उस बिटिया से पूछा गया। तब उसने बताया कि उसने रात में काले वस्त्र पहने कुछ लोगों को आते–जाते देखा था। पूछा–तुम उनमें से किसी को पहचानती हो, किसी की आवाज जानती हो? उसने कहा–मैंने ढंग से तो नहीं देखा पर हाँ, मुझे ऐसा लगा जैसे उन लोगों के साथ छोटे फूफा जी भी थे। उनकी आवाज आ रही थी। सूत्र जुड़ते गए, अंततः अत्यंत मार्मिक और हृदय को झकझोर देने वाला सत्य सामने आया। जिस धन को सुरक्षित रखने के लिए इतना प्रयास किया गया, वही धन उस परिवार के विनाश का कारण बन गया।

महानुभाव! जब संपत्ति जाती है, तो वह केवल चमड़ी उधेड़कर नहीं अपितु प्राण लेकर के जाती है। यदि वह संपत्ति अन्याय और बेईमानी से प्राप्त हुई हो, तो वह शांति नहीं देती, बल्कि भय, असुरक्षा और अंततः विनाश को जन्म देती है। हम अपने जीवन में धन तो चाहते हैं, लक्ष्मी का स्वागत भी करते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सत्य और परिश्रम से प्राप्त लक्ष्मी ही सुखदायी होती है। अन्यथा वही लक्ष्मी अशांति का कारण बन जाती है।

विश्वास रखो अपने जिनधर्म पर। ईमानदारी कभी ठगाई नहीं जाती। कोई तुम्हें ठग भी रहा है, तो वह तुम्हें नहीं ठग रहा है, वह स्वयं को ठग रहा है। इसलिए जीवन में सदैव यह संकल्प रखना चाहिए कि–हमारे घर में जो भी आए, वह न्यायपूर्वक, सत्यपूर्वक और परिश्रम से प्राप्त हो। क्योंकि अन्याय का धन कभी स्थायी सुख नहीं देता, वह अंततः दुःख और विनाश का ही कारण बनता है।

इसी कारण हमें सदा सावधान रहना चाहिए कि हमारे जीवन में आने वाला धन न्याय और सत्य के मार्ग से ही प्राप्त हो। क्योंकि जो धन अन्यायपूर्वक आता है, वह देखने में लाभ जैसा प्रतीत होता है, परंतु वास्तव में वह लाभ नहीं होता।

आप दीपावली पर पूजन करते हैं, तो दीवार पर लिखते हैं–शुभ-लाभ। पहले शुभ शब्द लिखते हैं; क्योंकि जो शुभ है वही लाभ है। अकेला लाभ लिखा है तो जरूरी नहीं वह शुभ ही हो, वह अशुभ भी हो सकता है। जीवन में प्रत्येक लाभ को शुभ मान लेना उचित नहीं है। किन्तु प्रत्येक शुभ को लाभ जरूर माना जाता है। अतः हमें यह समझना चाहिए कि वास्तविक शुभ वही है, जो ईमानदारी से प्राप्त हो। जिस धन को हम निडर होकर स्वीकार कर सकें, वही सच्चा लाभ है। मुझे दूसरे के हिस्से का एक कण भी नहीं चाहिए। इसलिए यदि जीवन को सुंदर बनाना है, उसे रंगों से भरना है, तो सबसे पहले उसमें ईमानदारी

का रंग भरना आवश्यक है। न्यायपूर्वक अर्जित धन से ही अपने जीवन को सजाओ।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व है–**तत्त्वज्ञान**। जीवन में तत्त्वज्ञानी बनो, बातों को सुन–सुनकर विद्वान मत बनो। बाहर घूमने वाले तो बगुले की तरह से घूमते रहते हैं। आप तो अपने आत्म सरोवर के राजहंस पक्षी बनो।

बाहर तो कौवे घूमते रहते हैं, आप तो जिनवाणी पढ़ो। दूसरों की कही–सुनी बातों में फँसकर अपने मार्ग से मत भटको। किसी ने कह दिया कौवा कान ले गया। आप सुनकर कौवे के पीछे दौड़ रहे हो। पहले अपने कान को तो देख लो, कान तुम्हारे पास हैं, कौवा कैसे ले जाएगा। और आप बिना बात ही चिल्ला रहे हैं कि कौवा मेरा कान ले गया। कोई कौवा ऐसा नहीं जो तुम्हारा कान ले जाए और तुम सोते रहो, ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए तत्त्वचिंतन करो, अनावश्यक बातें मत सुनो। लोग क्या कह रहे हैं, कौन क्या बोल रहा है–यदि हम इन्हीं बातों में उलझे रहें, तो अपने लक्ष्य तक कभी नहीं पहुँच सकते।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि कौवे के पीछे भागे, तो वह कभी शांत नहीं रह सकता, उसी प्रकार दूसरों की निरर्थक बातों में उलझा हुआ मनुष्य भी अशांत ही रहता है। इसलिए आवश्यक है कि हम विवेकपूर्वक कार्य करें और अनावश्यक बातों को अपने मन में स्थान न दें।

लोग संसार की बातों को तुम्हारे कान में रखेंगे, ऐसा है, वैसा है। चार की निंदा करेंगे, चार की बुराई करेंगे। कभी

आपकी प्रशंसा कभी अपनी प्रशंसा भी करेंगे। तुम्हारा मन खराब करके चलते बनेंगे। यदि आप हर बात को महत्व देंगे, तो आपका मन कभी स्थिर नहीं रह पाएगा। अतः जिनवाणी का स्वाध्याय करो, अपने स्वभाव को पहचानो। इससे आपको बड़ा सुकून, सुख और शांति प्राप्त होगी। वास्तव में, तत्त्वज्ञान के बिना व्यक्ति को कोई भी सुखी नहीं कर सकता, और जिसके पास तत्त्वज्ञान है, उसे कोई दुखी नहीं कर सकता।

आचार्यों ने भी कहा है–

"तत्त्वज्ञान विहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम्।"

अर्थात् जिनके जीवन में तत्त्वज्ञान नहीं है, उनके लिए दुःख ही स्थायी होता है। चाहे उन्हें बाहरी रूप से कितना ही वैभव क्यों न मिल जाए, वे वास्तविक सुख का अनुभव नहीं कर पाते। और जो तत्त्वज्ञान से युक्त है, उसे कोई भी परिस्थिति वास्तव में दुखी नहीं कर सकती।

और कहा–**''तत्त्वज्ञान हि जीवानां, लोकद्वये सुखावहम्''।** जीवन में तत्त्वज्ञान ही वास्तविक सुखदायक तत्त्व है। तत्त्वज्ञान ही दोनों लोकों को सुखी बनाने वाला है–इस लोक में भी सुख देता है और परलोक में भी सुख प्रदान करता है। तत्त्व अर्थात् स्वभाव। ज्ञान अर्थात् जिससे जाना जाता है–**जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्।** जो जानता है वह ज्ञान, जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान है और ज्ञानरूप जो क्रिया है वह ज्ञान है। तत्त्वज्ञान होना चाहिए, केवल शाब्दिक ज्ञान से कुछ नहीं होता। शाब्दिक

ज्ञान तो नक्शे के समान है, और तत्त्वज्ञान उस मार्ग पर चलने के समान है।

यदि कोई व्यक्ति केवल नक्शा लेकर घूमता रहे, तो वह अपने गंतव्य तक नहीं पहुँच सकता। उसी प्रकार, यदि केवल शब्दों का ज्ञान हो और भीतर उसका अनुभव न हो, तो वह ज्ञान अधूरा है। शाब्दिक ज्ञान तो पैकेट की तरह है और तत्त्वज्ञान माल की तरह से है। खाली पैकेट लेकर घूमते रहोगे तो कुछ होने वाला नहीं। यदि डिब्बा खाली है, भूख लगी है, उसमें भोजन है ही नहीं तो डिब्बा रखने से क्या? केवल मन को दिलासा देने से पेट नहीं भरता। तत्त्वज्ञान तो भीतर का आहार है। आत्मा को जो वास्तविक तृप्ति मिलती है, वह तत्त्वज्ञान से ही मिलती है।

अगला महत्वपूर्ण तत्त्व हैं—निष्ठा, श्रद्धा, विश्वास, प्रतीति, आस्था, रुचि—ये सभी सम्यक्त्व के एकार्थवाची नाम हैं।

यदि जीवन में प्रभु परमात्मा के प्रति, गुरु के प्रति, जिनवाणी के प्रति, धर्म के प्रति और अपने कर्तव्य के प्रति विश्वास है, तो मनुष्य संसार में बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है। उसके लिए कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रहती, यहाँ तक कि मोक्ष भी संभव हो जाता है। कहा भी गया है—

"श्रद्धा से सब ही तिरे, क्या साधु क्या चोर।
अंजन भए निरंजन, सेठ वचन के जोर॥

वह श्रद्धा ही तो थी 'आणं ताणं कछु न जाणं सेठ वचन प्रमाणं।' साधु भी मोक्ष जाएगा तो श्रद्धा से जाएगा। चोर भी

जाएगा तो श्रद्धा से जाएगा। बिना श्रद्धा के किसी का भी कल्याण संभव नहीं है।

इसलिए तत्त्वज्ञान के साथ श्रद्धा का होना भी अत्यंत आवश्यक है। जितनी गहरी श्रद्धा होगी, उतना ही गहरा ज्ञान प्राप्त होगा और उतना ही अधिक आनंद आता है। जैसे दूध में जितना ज्यादा मीठा होता है, दूध उतना ही ज्यादा मीठा होता है। उसी प्रकार जीवन में श्रद्धा और ज्ञान का समन्वय होने से जीवन मधुर बन जाता है। दूध के डिब्बे पर मीठा लिख देने से दूध मीठा नहीं होता। उसी प्रकार केवल नाम मात्र से, केवल बाहरी दिखावे से या केवल शब्दों के ज्ञान से जीवन में तत्त्वज्ञान नहीं आता। वह तो अनुभव से आता है, अभ्यास से आता है। जो आनंद नदी किनारे घूमने पर मिलता है, वह आनंद टब में डुबकी लगाने से नहीं मिलता।

जो स्वर वर्षा की बूंदों में आ रहा है, वह स्वर-संगीत आपको गिलास के पानी को फेंटने में नहीं मिलेगा। और अन्वेषण करेंगे तो पानी में आपको H_2O ही मिलेगा, संगीत नहीं मिलेगा। परंतु वह संगीत उसमें है। ऐसे ही श्रद्धा में आनंद है, बाहर से कोई वस्तु नहीं लानी है, बस अपनी श्रद्धा को गहराना है। उसकी सुगंध स्वयं ही फैलती है।

अगला रंग कहा–**'अतिथिप्रिय।'** अतिथि कौन कहलाता है? 'जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो।' दिगम्बर साधु के आने की कोई निश्चित तिथि नहीं होती, वे अनियत विहारी कहलाते हैं। धन्य हैं वे श्रावक जिन्हें अपने परिवारजनों से अधिक अतिथि से प्रेम होता है।

संसार से प्रेम करोगे, राग करोगे, तो संसार में डूब जाओगे, और देव-शास्त्र-गुरु से राग करोगे तो संसार-सागर से पार हो जाओगे। आपका यह निर्णय आपके हाथ में है कि आपका मन कहाँ लगता है। जहाँ आपका मन लगता है, वहीं आपकी श्रद्धा टिकती है, और जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ सब कुछ आ जाता है। जब श्रद्धा अंदर होती है, तो कहना नहीं पड़ता–

दीवार नहीं होती दिल और मन के बीच।
जब दिल में दर्द होता है तो आँखें भर ही जाती हैं।

दर्द हमारे गुरु को हुआ, पर हमारी आँखें क्यों भर आई? क्योंकि यह संबंध श्रद्धा का है। श्रद्धा पक्की और सच्ची चाहिए। सच्ची श्रद्धा ही संसार के बंधनों से मुक्ति दिलाने वाली होती है।

अगला रंग कहा–**'वैराग्य।'** जब तक संसार में रह रहे हैं, मोक्ष नहीं हुआ, तब तक क्या करें? मुनि बन जाओ। महाराज जी हम मुनि नहीं बन सकते। क्यों नहीं बन सकते? हमारे कर्म का उदय चल रहा है। तो ठीक है; मुनि नहीं बन सकते तो मुनीम जैसे बनकर रहो। मुनीम वह है जो सेठ जी के यहाँ रहकर लाभ-हानि का हिसाब लगाता है। सुबह से शाम तक उसके हाथ से लाखों रुपये आ रहे हैं, जा रहे हैं। यदि सेठ जी को व्यापार में लाभ हुआ तो मुनीम को ज्यादा खुशी नहीं होती, हानि हो गई तो उसे दु:ख नहीं होता, क्योंकि उसे पता है–मुझे तो मेरी लगी-बँधी पगार ही मिलनी है।

बस संसार में भी रहो तो ऐसे ही रहो कि जब तक मेरे पुण्य का उदय है, तब तक यह संपत्ति मेरे सामने पड़ी है और पाप का उदय आ गया तो क्षणभर में नष्ट हो जाएगी। जब तक पुण्य का सूर्य उदय को प्राप्त है, तब तक सब दिखाई दे रहा है। आँख खुली है, सब ठीक दिख रहा है, आँख बंद होते ही सब यहीं पड़ा रह जाएगा।

''सब ठाठ पड़ा रह जाएगा, जब लाद चलेगा बंजारा।''

जब आत्मा इस घर से जाएगी, समय का डंका बजेगा, तब सब ठाट-बाट यहीं का यहीं रह जाएगा।

रखी रहेगी संपदा पड़ी रहेगी काय।
खड़े रहेंगे बंधुजन खाली हाथ ही जाएँ।

जब जाने की बारी आएगी, तब संपत्ति जहाँ अलमारी, लॉकर, तिजोरी में रखी है वहीं रखी रह जाएगी। चाहे आपने मेहनत से कमाया हो या बेईमानी से, वह किसी के भी साथ आगे नहीं जाएगा। और शरीर भी यहीं पड़ा रह जाएगा। वह आत्मा के साथ नहीं जाएगा। बंधु-बांधव भी वहीं रहेंगे जहाँ हैं, कोई साथ में यात्रा नहीं करता है।

इसलिए संसार में जीओ तो वैरागी बनकर। जितनी ज्यादा आसक्ति उतना ज्यादा दुःख। **''मूर्छा परिग्रहः''** यह मूर्च्छा (आसक्ति) ही दुःख की जननी है, नरक के बंध का कारण है। वह मूर्च्छा चाहे भिखारी में हो या चक्रवर्ती राजा में हो, जिसकी जितनी ज्यादा मूर्च्छा है वह उतना ज्यादा दुःखी। जो जितना ज्यादा पकड़कर बैठा रहता है, वह उतना ही ज्यादा बंधा हुआ है। जो आ रहा है आने दो, जो जा

रहा है जाने दो। रोकने से कुछ नहीं होता। पुराना जाएगा तभी तो नया आएगा। यही संसार की रीति है।

यदि आपने वस्तु को पकड़ने की कोशिश की तो वही आपको पकड़ लेगी। यदि आप छोड़ देंगे तो वही वस्तु आपको छोड़ देगी। आप सोचते हैं हम उसमें से सार निकाल लेंगे, पर परिग्रह ही आपको निचोड़कर आपमें से सार निकाल लेगा और आपको बेकार करके फेंक देगा। जैसे जोंक गाय के स्तन पर लग करके खून चूस लेती है। जैसे कोई जाल में फँसकर छटपटाता है, वैसे ही मनुष्य मोह के जाल में फँस जाता है। इसलिए समझदारी इसी में है कि संसार में रहते हुए भी उसमें उलझे नहीं, बल्कि उसे पहचानकर उससे ऊपर उठने का प्रयास करें। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो कोई लाभ नहीं होगा।

आचार्यों ने कहा–वैरागी बनकर रहो। भरत चक्रवर्ती हजारों-लाखों वर्षों तक वैरागी बनकर अयोध्या के महलों में रहे। छ्यानवें हजार रानी, छह खण्ड का राज्य, नवनिधि, चौदह रत्नों के बीच भी वैरागी बनकर रहे, तभी दीक्षा लेने के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त बाद ही केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। भले ही घर में रहो, परंतु अपनी आत्मा की दृष्टि में ईमानदार रहो, तब तुम्हारा कोई बालबांका नहीं कर सकता।

जब तुम अपनी दृष्टि में गिर जाते हो तब बाहर का व्यक्ति तुमको उठा नहीं सकता। बाहर गिर जाओगे तो चार व्यक्ति आएँगे और उठा लेंगे, पर अपने आप की दृष्टि से

गिर गए तो कौन उठाएगा? इसलिए अपनी दृष्टि में ईमानदार बने रहिए। कमाओ, खाओ और खिलाओ, जो बचा है स्वाभाविक उसे दान दो या सुरक्षित रखो, किन्तु आसक्त मत होओ। खाने में भी आसक्ति मत रखना; क्योंकि यदि खाने में आसक्ति रखी तो बीमार पड़ जाओगे, कमाने में आसक्ति रखी तो मन अशांत रहेगा। देने में आसक्ति रखी तो पुण्य की जगह पाप ही कमा लोगे। जोड़ने में आसक्ति रखी तो दुर्गति का बंध कर लोगे। इसलिए वह व्यक्ति जो वैराग्य के साथ जीता है, वही मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

अंतिम रंग कहा–**'सत्यवादी'**, कहीं परोपकारी भी कहा गया है। यदि कोई दुखी व्यक्ति दिखाई दे जाए, तो उसके प्रति संवेदना रखें। भगवान ने आपको सामर्थ्य दिया है, तो उसका सदुपयोग करें। तन, मन, धन, वचन एवं साधन सामग्री का सदुपयोग करें। इससे आप उत्कर्ष अवस्था को प्राप्त करोगे।

महानुभाव! जीवन के यह रंग अपने मनुष्य जीवन रूपी इन्द्रधनुष में भर दोगे, तो आप भी निःसन्देह इंद्र की तरह वैभव को प्राप्त करने में समर्थ हो जाओगे। न्यायपूर्वक धन कमाना, तत्त्वज्ञानी होना, निष्ठावान होना, अतिथिप्रिय होना, वैरागी होना और परोपकारी अथवा सत्यवादी–ये सब रंग आपके जीवन में भर जाएँ तो आपका जीवन इन्द्रधनुष की तरह दैदीप्यमान हो जाएगा। आज बस इतना ही।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

भावों की दिशा, जीवन की दशा

धर्मस्नेही महानुभाव! भाव चेतना की चेतना है। प्राणी के जीवन में दुःख अथवा अशांति का कारण वास्तव में यह है कि हमारे पास शुभ भावों का अभाव है। हमें सुख को पकड़ने की आवश्यकता नहीं है, अपितु जिन भावों से सुख मिलता है, उन भावों को ग्रहण करना है। उन भावों को जागृत करना है। यह सुख न हमसे दूर है, न हमारे लिए दुर्लभ है, न असाध्य है और न ही असंभव है; यदि हम उन भावों का अभाव कर दें। जिन भावों के साथ दुःख का नियामक संबंध है। किन्तु यह छोटा सा कार्य भी हमारे लिए पहाड़ जैसा दिखाई देता है।

एक बार किसी व्यक्ति ने पूछा—संसार में सबसे मजबूत क्या है? तो उत्तर प्राप्त हुआ कि सबसे मजबूत लोहा है, जो कि पत्थर आदि को तोड़ देता है। किन्तु उसका खंडन करते हुए व्यक्ति तुरन्त उठा और बोला कि महाशय! जिस लोहे को अग्नि पिघला देती है, तो क्या आप अग्नि की शक्ति को लोहे से कम मानते हैं?

तब व्यक्ति कहने लगा—निस्संदेह आपका उत्तर सही है कि अग्नि बहुत बलवान है, जो कि सब कुछ जलाने की क्षमता रखती है। तभी दूसरा व्यक्ति अपने स्थान से उठा और बोला—यदि आपको अपने उत्तर का खंडन सुनना बुरा न लगे, तो मैं भी कुछ कहना चाहता हूँ।

महाशय! क्या उस अग्नि को बुझाने में जल सक्षम नहीं होता? यदि वह जल अग्नि को शांत कर देता है, तो क्या हम जल की शक्ति को अग्नि से कम मानें? तभी तीसरे महाशय ने खड़े होकर कहा–निस्संदेह आपने अपनी बुद्धि का अच्छा परिचय दिया है, किन्तु महाशय! वह जल भी हवा के माध्यम से इधर-उधर बिखर जाता है। क्या आपने मेघों को वायु के झोंकों से बिखरते हुए नहीं देखा है? अतः वह वायु जल को स्थानांतरित करने में समर्थ है, तो निश्चय ही वायु को शक्तिशाली होना चाहिए।

अभी भी यह निष्कर्ष अंतिम नहीं था। तभी चौथे व्यक्ति ने उस उत्तर से असहमति जताई और कहा–आपने वायु को बलशाली कहा; किन्तु इसके सद्भाव में व्यक्ति जीता है और अभाव में मर जाता है, अतः इसका बहुत बड़ा महत्व है। किन्तु उस वायु को रोकने में पहाड़ सक्षम है। कितनी भी तेज हवा चल रही हो, यदि सामने पहाड़ आ जाए, तो वह रुक जाती है।

इसमें भी किसी व्यक्ति को शंका हुई, तभी यह निर्णय हुआ कि यदि सबसे शक्तिशाली कोई है, तो वह है 'भावना'। भावना के बल से व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। यदि भावना के बल से व्यक्ति तीतर बन सकता है, तो भावना के बल से ही तीर्थंकर भी बन सकता है। भावना संसार की सबसे बड़ी शक्ति है। यदि आपका मन किसी कार्य में लग जाए, तो वह कार्य निश्चित ही सफल हो सकता है। कहा गया है–

भावना हर मुश्किल को आसान बना देती है,
भावना अभिशापों को भी वरदान बना देती है।

हैवान भी इंसान बन जाता है भावना के बल से,
भावना तो पत्थर को भी भगवान बना देती है॥

भावना सबसे प्रभावशाली है। जितने भी धर्म के उपाय हैं अथवा पाप के, मोक्ष का मार्ग है अथवा संसार का मार्ग है, जितने भी उत्थान और पतन के हेतु हैं अथवा सेतु हैं। सब भावना के धरातल पर ही खड़े हैं। जब भावना विकृत हो जाती है, तब संसार में अंधकार फैल जाता है और जब भावना शुद्ध होती है तब प्रकाश फैल जाता है।

इसलिए हमें सबसे पहले यदि कुछ सुधारने का प्रयास करना है तो वह भावना है। उपासना और साधना तो बाद की चीज हैं। यदि सबसे पहले कोई मूल बीज है तो वह भावना है। इसीलिए आचार्यों ने कहा है—

दानं दुर्गति-नाशाय, शीलं सद्गति-कारणं।
तपः कर्म विनाशाय, भावना भव-नाशिनी॥

भावना ही भव (संसार) का नाश करने वाली है। जैसी भावना होती है, वैसा ही परिणाम मिलता है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी वैसी ही दृष्टि बन जाती है।

कई बार ऐसा होता है कि किसी वस्तु को देखने वाले अलग-अलग व्यक्ति उसे अलग-अलग रूप में देखते हैं—किसी को वही वस्तु अच्छी लगती है, किसी को बुरी लगती है। इसी प्रकार संसार में भी सबकी दृष्टि भिन्न-भिन्न है, परन्तु वस्तु एक ही है। इसका कारण यह है कि हमारी दृष्टि हमारी भावनाओं से संचालित होती है।

"या दृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति ता दृशे।"

जिसकी जैसी भावना होती है, उसकी उसी प्रकार की

सिद्धि होती है। कार्य भले ही सबका एक जैसा हो किन्तु सिद्धियाँ सबकी अलग-अलग होती हैं।

''जाकी रही भावना जैसी, तिन मूरत देखी प्रभु वैसी।''

जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसा ही दृश्य दिखाई देता है।

जैसे सामने कोई युगल बैठा है—एक पुरुष है, एक स्त्री है। उन्हें देखकर कोई कहता है, पति-पत्नी होना चाहिए, दूसरा कहता है—प्रेमी और प्रेमिका होना चाहिए, तीसरा कहता है—भाई-बहिन होना चाहिए, चौथा कहता है ये माँ-बेटा भी हो सकते हैं, पिता-पुत्री भी हो सकते हैं। कोई कहता है—प्रभु के भक्त हो सकते हैं। सभी अपनी-अपनी भावना के अनुसार उत्तर दे रहे हैं। वे उस दृश्य को नहीं अपनी भावना को कह रहे हैं। दृश्य तो एक है, उत्तर अनेक हैं। उत्तर अनेक हैं इसका आशय यह है कि वे दृश्य से संबंधित नहीं आपके दृग से संबंधित हैं। आपकी दृष्टि से, आपके मनोभावों से संबंधित हैं।

आचार्य भगवन् गुणभद्र ''स्वामीजी ने उत्तरपुराण में लिखा है—एक वेश्या मृत अवस्था में श्मशान में पड़ी हुई थी। उसे देखकर कुछ लोगों की भीड़ एकत्र हो गई। एक कामी पुरुष आया और सोचने लगा—"क्या सुंदर शरीर पाया है! काश, यह जीवित होती, तो मैं इस पर अपने प्राण न्योछावर कर देता। इसके साथ भोग भोगता।" दूसरी ओर एक कुत्ता वहाँ खड़ा था। वह सोच रहा था— "यदि यह भीड़ यहाँ से चली जाए, तो ये मेरा शिकार हो जाए। मैं निश्चिंत होकर खा सकूँगा और मेरा पेट भर जाएगा।" एक अन्य व्यक्ति सोच रहा था—"यह एक वेश्या है। यदि यह

वेश्या न होकर साधारण स्त्री होती, तो समाज में निंदा का पात्र न बनती, और इसका मृत शरीर इस प्रकार यहाँ पड़ा न होता।" इतने में एक ज्ञानी व्यक्ति वहाँ से गुजर रहा था। उसने देखा और सोचा–''काश मैं दस मिनट पहले आ जाता, तो अंत समय में इसे णमोकार मंत्र सुना देता।" तभी कोई मुनिराज सामायिक हेतु शमशान में आए, उन्होंने उस मृत शरीर को देखा और अपनी आत्मा में लीन हो गए। उन्होंने सोचा–"यह शरीर अनित्य है।"

''जन्मै मरे अकेला चेतन सुख दुःख का भोगी।
और किसी का क्या इक दिन यह देह जुदी होगी।।

इस जीव ने वेश्यावृत्ति से पाप का अर्जन कर धन कमाया और अब अकेले ही सब छोड़कर जा रही है। चिंतन और गहराया–

राजा-राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार।।

कभी भी मेरी समाधि हो सकती है। इस प्रकार वे मुनिराज वेश्या की मृत्यु देखकर अपनी आत्मा में लीन हो गए। उनका वैराग्य वीतरागता की ओर बढ़ गया।

महानुभाव! निमित्त तो एक ही है, दृश्य तो एक ही है, किन्तु सबको उसका परिणाम अलग-अलग भोगना क्यों पड़ा? वह कामी व्यक्ति उसी समय नरक गति का बंध कर लेता है, कुत्ता उसे देखकर मायाचारी के परिणाम से तिर्यंचगति का बंध कर लेता है। दूसरा भला व्यक्ति उसी समय मनुष्य गति का बंध कर लेता है। णमोकार मंत्र सुनाने का भाव रखने वाला श्रावक देवगति का बंध कर लेता है,

और मुनि महाराज, जिन्होंने वैराग्य भाव धारण किया, वे अंतर्मुहूर्त में क्षपक श्रेणी को प्राप्त कर घातिया कर्मों का नाशकर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं।

महानुभाव! सब कुछ भावना पर ही निर्भर है। बल भावना में है। उस बल के आगे संसार के सभी बल निर्बल और दुर्बल हो जाते हैं। उस भावना के बल को कोई नष्ट नहीं कर सकता। तीर्थंकर पद भी केवल भावना के बल से प्राप्त किया जाता है। जिसके अंतःकरण में प्राणी मात्र के प्रति कल्याण की भावना उत्पन्न होती है, वह व्यक्ति तीर्थंकर पद प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

"वर्तमान पर्यायोपलक्षितः भावः।"

वर्तमान पर्याय से उपलक्षित भाव कहलाते हैं।

भावों की पगडंडी पर सरपट दौड़ा करता मन।
भावों ही भावों में भव के बंध बांधता रहता मन॥
भावों ही भावों में भव के बंध काटता रहता मन॥

भावना के बल से ही तिर्यंच गति का जीव, वह शूकर मुनिराज के रक्षण के भाव से स्वर्ग में गया और भक्षण करने के भाव से सिंह अधोगति अर्थात् नरक में गया। दोनों में पूरी कषाय के साथ युद्ध हुआ, किन्तु परिणामों के परिणाम के कारण एक अधोगति अर्थात् को प्राप्त हुआ और दूसरा उर्ध्वगति को प्राप्त हुआ।

महानुभाव! मेंढक का जीव, जो केवल अपने शुद्ध भावों के साथ मुँह में कमल की पांखुड़ी को दबाकर भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में जा रहा था। मार्ग में ही राजा श्रेणिक के हाथी के पैरों के नीचे दबकर मृत्यु को

प्राप्त हो गया; किन्तु अपनी शुद्ध और प्रबल भावना से देवगति को प्राप्त किया, और राजा श्रेणिक से भी पहले वह भगवान के समवसरण में पहुँच गया।

प्रीतिंकर द्विज जिसने महार्चना करने की भावना भायी। वह भावना के बल से पूजा की अनुमोदना करके मृत्यु को प्राप्त कर यक्ष हुआ। तब मुनिराज का उपसर्ग दूर किया। उसके उपरांत मुदित नामक राजपुत्र हुआ, वहाँ समाधिपूर्वक मरण कर सनत्कुमार स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से च्युत हो राक्षसकुल का वह महाराक्षस नाम का विद्याधर होकर मोक्ष को प्राप्त हुआ। यह सब सामर्थ्य भावों की है।

आचार्य भगवन् अजितसेन स्वामी जी छत्रचूड़ामणि ग्रंथ के मंगलाचरण में कहते हैं–शुद्ध भावना वाला व्यक्ति मुक्ति रूपी कन्या से पाणिग्रहण करने का अधिकारी होता है।

यदि भावना श्रेष्ठ है, तो साधना और उपासना भी उत्कृष्ट बन जाती हैं। यदि भावना दूषित या विकृत है, तो साधना और उपासना भी दूषित और निष्फल बन जाती हैं। यदि भावना प्रशस्त है, तो भाव और उपासना दोनों प्रशस्त होती हैं। भाव शब्द अपने आप में बहुत सूक्ष्म और गहरा है। भाव शब्द का अर्थ होता है, तत्त्व। ''तद्भावस्तत्त्वं''

भाव का दूसरा अर्थ होता है–वर्तमान अवस्था। वर्तमान क्षण में जो स्थिति है, वही भाव है। भाव का अर्थ है–उपलब्धि। यदि भाव को सही दिशा में लगा दिया जाए, तो वह शुभ बन जाता है, और यदि उसी भाव को विपरीत दिशा में लगा दिया जाए, तो वह अशुभ बन जाता है।

यदि भाव शब्द के साथ सु उपसर्ग लगा दिया तो सुभाव हो गया। सु अर्थात् अच्छा। यदि अच्छे भाव शब्द के साथ स्व जोड़

दिया जाए, तो वह स्वभाव बन जाता है। ज्ञाता-दृष्टापन मेरा स्वभाव है। इसका आशय है बिना किसी निमित्त के चेतना में जो परिणाम हो रहे हैं, वह स्वभाव है। और यदि दुर् उपसर्ग लगा दिया तो वह हो गया दुर्भाव अर्थात् खोटे भाव। सम उपसर्ग लगा दिया तो हो गया समभाव। वि उपसर्ग लगा दिया तो विभाव हो गया।

जिस प्रकार उपसर्ग और प्रत्यय लगाने से शब्द का मूल्य कभी बढ़ जाता है, कभी घट जाता है। ऐसे ही भावों का मूल्य भी उसके प्रयोग पर निर्भर करता है। इसी प्रकार चेतना के साथ जब भाव जुड़े होते हैं, तो चेतना का मूल्य भी उन्हीं भावों के अनुसार बढ़ता या घटता है। यदि भाव अच्छे हैं, तो चेतना का मूल्य बढ़ जाता है, और यदि भाव बुरे हैं, तो उसका मूल्य घट जाता है।

मनुष्य प्राय: चिंतित रहता है-"मेरे वस्त्र खराब न हो जाएँ, मेरा व्यापार खराब न हो जाए, मेरा खेत खराब न हो जाए, मेरा अहित न हो जाए।" इस प्रकार वह बाहरी वस्तुओं के लिए तो चिंतित रहता है, जिसको वह अपनी दृष्टि में प्रिय मानता है, उसके लिए चिंतित रहता है। किन्तु आपके पास जो परम रत्न का पिटारा है उसकी आपने कभी चिन्ता नहीं की।

क्या आपने कभी अपने परिणामों की चिन्ता की? अपने भावों की चिन्ता की? क्या तुमने कहा, हे भगवान्! मेरा परिणाम खराब न हो। बाजार के भाव गिर जाने पर कई बार सिर पकड़कर रोये, किन्तु कभी चेतना के भाव गिर जाने पर सिर पकड़कर रोये? प्रात:काल जब जागा तब भाव बहुत अच्छे थे-पूजा, दान, स्वाध्याय के। परन्तु मध्याह्न तक

आते-आते भाव गिर गए, संध्याकाल में भाव और गिर गए, धन कमाने के भाव रह गए। रात्रि में विषय-भोग के भाव उत्पन्न हो गए। सोचिए—दिन भर में कितने भाव गिर गए। सौ रुपये की वस्तु एक रुपये की भी नहीं रही, फिर भी मनुष्य बेखबर बना रहता है।

महानुभाव! भगवान महावीर स्वामी के समय की बात है। एक राजा था, जिसका नाम विमलवाहन था। एक दिन आकाश में चमकती बिजली को देखकर उनको वैराग्य हो गया और उन्होंने अपने पुत्र श्वेतवाहन को राज्य देकर स्वयं दीक्षा ले ली और स्वयं दुर्द्धर तप में लीन हो गए। किन्तु उनका पुत्र अभी बहुत छोटा, अबोध बालक था।

एक दिन राजा श्रेणिक भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक मुनिराज को तप करते देखा। वे अत्यन्त कठिन तपस्या में लीन थे—गंभीर, स्थिर और एकाग्र। उन्हें देखकर श्रेणिक ने पूछा—"यह कौन महाराज हैं?" सैनिकों ने कहा—"ये धर्मरुचि नाम के मुनिराज हैं, जो पहले विमलवाहन नाम के राजा थे।"

राजा श्रेणिक ने कहा—"अरे, ये तो घोर तपस्या कर रहे हैं।" तभी एक व्यक्ति बोला—"ये तपस्या नहीं कर रहे, बल्कि दिखावा कर रहे हैं। तभी दूसरे व्यक्ति ने कहा—हाँ, तुम ठीक कह रहे हो। ये तो ढोंगी हैं। इन्होंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया। ये अपने छोटे, अबोध बालक को राज्य देकर आ गए हैं, इन्होंने कुछ सोचा नहीं कि छोटा सा बालक राज्य कैसे संभाल पाएगा। अरे! ये तो स्वार्थी हैं। फिर एक और व्यक्ति बोला—क्या तुम्हें पता है कि उस

अबोध बालक पर सामने वाले राजा ने चढ़ाई कर दी है, बेचारा बंदीगृह में पड़ा है।"

इस प्रकार सभी लोग बातें कर रहे थे। ये सभी शब्द मुनिराज के कान में भी पड़ रहे थे। वे सोचने लगे—जिस राजा को मैंने बीसों बार क्षमा किया, उसने मेरे बेटे पर चढ़ाई की। मैं देखता हूँ उसे। और वे ध्यान में बैठे-बैठे ही युद्ध करने लगे। युद्ध में चक्रव्यूह की रचना करने लगे।

तभी राजा श्रेणिक समवसरण में पहुँचे और उन्होंने इन्द्रभूति गौतम गणधर से प्रश्न किया—"हे प्रभु! जो मुनि महाराज मार्ग में तपस्या कर रहे थे, जो बहुत वैरागी हैं, उनकी आगे क्या गति होगी?" वे बोले यदि वर्तमान में आयु का बंध कर लें, तो सातवें नरक में पहुँचेंगे। श्रेणिक ने कहा—"महाराज! आप क्या कह रहे हैं?" उन्होंने पुनः कहा—यदि इस समय आयु का बंध करें तो छटवें नरक में, पाँचवें, चौथे, तीसरे, दूसरे और अब पहले नरक में।" श्रेणिक आश्चर्य में पड़ गए कि प्रभु क्या कह रहे हैं। तभी देवों का समूह एकत्रित होकर जाने लगा तो पुनः श्रेणि ाक ने कहा—"भगवन्! ये कहाँ जा रहे हैं?" तब उन्होंने कहा—जिन महामुनिराज की तुम चर्चा कर रहे थे, उनको केवलज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, ये देव वहीं जा रहे हैं।

श्रेणिक ने आश्चर्य में भरकर पूछा—भगवन्! अभी तो आप कह रहे थे कि वे नरक में जाएंगे, और अब उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। ऐसा क्या हुआ? तब उन्होंने बताया कि मार्ग में आपकी बातें सुनकर मुनिराज का पुत्रस्नेह और शत्रु के प्रति द्वेष जागृत हो गया, जिससे वे

ध्यान में युद्ध कर रहे थे। युद्ध करते हुए उनके रथ का पहिया निकल गया, और वे युद्ध हारने लगे।

उन्होंने सामने वाले राजा पर प्रहार करने के लिए जैसे ही अपने मस्तक से मुकुट उतारना चाहा, तो देखा–अरे! “यहाँ तो कुछ भी नहीं है। मैं तो मुनि हूँ।” ये क्या हो गया मुझे, मैं कहाँ राग–द्वेष के बीच फँस रहा हूँ, मेरे लिए तो पुत्र और शत्रु सब एकसमान हैं। उनके भीतर पश्चाताप की अग्नि जलने लगी। चेतना जागृत हो गई और वे सावधान हो गए। उन्होंने अपने अशुभ भावों को त्याग दिया और अंतर्मुखी होकर ध्यान में लीन हो गए। तभी शुक्लध्यान के प्रभाव से चार घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया और अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञानी बन गए।

महानुभाव! ये परिणाम (फल) होता है परिणामों (भावों) का। जो जीव अंतर्मुहूर्त पहले नरक का बंध कर रहा था, वही परिणाम बदलने पर स्वर्गगति को प्राप्त कर लेता है। राजा श्रेणिक ने भी भावों के द्वारा ही सप्तम नरक का बंध किया था। उन्होंने मुनि महाराज पर तलवार तो नहीं उठाई, किन्तु मरा हुआ सर्प उनके गले में डाल दिया। जब रानी चेलना को यह पता चला तो उसने कहा–राजन्! आपने महापाप किया है। मुनि महाराज पर उपसर्ग करना तो दूर उपसर्ग करने का विचार भी पाप है।

आपने नरक का द्वार स्वयं के लिए खोल लिया। तभी रानी चेलना महाराज श्रेणिक के साथ उन मुनि महाराज के पास गई और उनका उपसर्ग दूर किया, क्षमायाचना की। तब मुनिराज ने राजा–रानी दोनों को समान आशीर्वाद दिया। यह देख राजा श्रेणिक की भावना शुद्ध हुई और परिणाम

बदल गए। तब राजा श्रेणिक ने सोचा– “यदि अपने पाप के लिए मैं अपना गला काटकर इनके चरणों में रख दूँ, तो भी कम है।”

मुनि महाराज मनःपर्ययज्ञानी थे वे राजा श्रेणिक के मन की बात जान गए और बोले–श्रेणिक तुम क्या सोच रहे हो? क्या खून से खून का दाग साफ किया जाता है। उसे तो जल से ही साफ किया जाता है। तुमने मुनिराज पर उपसर्ग करके पाप किया, अब तुम आत्महत्या करके और पाप करना चाहते हो। क्या ऐसा करने से तुम्हारा पाप घट जाएगा।

राजा श्रेणिक वहीं झुक गए, नतमस्तक हो गए और उसी समय उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। उन्होंने नरक आयु का अपकर्षण कर दिया। वह सप्तमनरक से पहले नरक की कर ली। जो तेतीस सागर की आयु थी, वह अब चौरासी हजार वर्ष रह गई। यह सब उनके परिणामों का ही फल था।

व्यक्ति सिर्फ भावों के बल से ही पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत हो पाप कमा लेता है। जिस मन से पाप किया जाता है, उसका निवारण भी उस मन से ही हो सकता है।

आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामीजी ने भी भावों के सम्बन्ध में रयणसार में कहा–

असुहादो णिरयाऊ, सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।
दुह-सुहभावं जाणदु, जं ते रुच्चेइ तं कुज्जा॥57॥

हे संसार के भव्य जीवो! हम आपको दो मार्ग बता रहे हैं। आपकी जैसी इच्छा हो वैसा आप गमन करो। एक मार्ग है अशुभ का, दूसरा मार्ग है शुभ का। अशुभ मार्ग नरकगति

का है और शुभ मार्ग स्वर्ग आदि का है। अथवा यूँ कहें कि एक कंटकाकीर्ण मार्ग है, दूसरा पुष्प निर्मित मार्ग है। एक दु:ख है दूसरा सुख है। एक में क्लेश है, दूसरा शांतियुक्त हैं। एक पतन का मार्ग है, दूसरा उत्थान का मार्ग है।

मार्ग दो हैं और यात्री एक है। मंजिल से पूर्व मार्ग का चयन बहुत जरूरी है कि मेरी आत्मा को कहाँ पहुँचना है। आचार्य भगवन् ने कहा–''असुहादो णिरयाऊ''–अशुभ भाव करने से नरक आदि गति का बंध होता है। ''सुहभावादो दु सग्ग-सुहमाओ'' शुभ भाव से स्वर्गसुख और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आपके सामने दोनों मार्ग रख दिए आपको जो रुचे वह चुनो।

महानुभाव! भावों के सम्बन्ध में एक प्रसंग आता है–अयोध्या नगरी में एक वसुविंदु नाम का राजा राज्य करता था। वह बड़ा धार्मिक, न्यायप्रिय, प्रजावत्सल, पराक्रमी और जो गुण एक श्रेष्ठ राजा में होने चाहिए, वे सब उसमें विद्यमान थे। वसुमती नाम की उसकी रानी भी धर्मपरायण थी और सदा उसे अच्छे कार्यों के लिए प्रेरणा देती रहती थी। प्रजा भी राजा की आज्ञा का पालन करने वाली, धर्म के प्रति समर्पित थी।

एक दिन राजा वन-भ्रमण के लिए गया। राजा ने एक नया रथ बनवाया था। और वह उसी रथ में सवार होकर वन-विहार के लिए चल दिया। वह बहुत दूर तक निकल गया। सारथी ने भी कुछ नहीं कहा। राजा किसी चिंता में डूबा हुआ था कि अचानक रथ किसी घनी झाड़ी में जाकर अटक गया। राजा की चिंतन-धारा टूट गई। उसने अपने सारथी से पूछा–''तुम रथ को कहाँ लेकर जा रहे हो?''

सारथी ने कहा–"आपने कहा रथ तैयार करो, मैंने कर दिया। आपने कहा चलो, मैं चल दिया। आपने बताया नहीं कि कहाँ तक जाना है, और न ही रथ कहीं रोकने को कहा।''

आपने कुछ टोका नहीं और मेरा साहस नहीं हुआ कि मैं आप से कुछ पूछ सकूँ। राजा ने कहा–''मैं रथ में बैठा हुआ भी रथ में नहीं था। मेरा शरीर तो यहीं था लेकिन मेरा मन यहाँ नहीं था।

राजा ने कहा–लगता है हम जंगल में फंस गए हैं, इसलिए शीघ्रता से रथ को किसी राजमार्ग पर ले चलो, अन्यथा सूर्य अस्ताचल की ओर है। कहीं रात्रि हमें यहीं व्यतीत न करनी पड़े।

उसने कहा–"महाराज! अब इस रथ को झाड़ी में से मोड़ा नहीं जा सकता। इसे आगे ही ले जाना पड़ेगा। राजा को प्यास लगी, सारथी पानी की खोज में निकल गया। प्यास के कारण राजा के प्राण कण्ठ में आने लगे, तब राजा स्वयं घोड़ा लेकर पानी की तलाश में आगे बढ़ गया। कुछ समय के बाद घोड़ा भी थककर रुक गया। अब राजा पैदल ही पानी की तलाश में चलने लगा।

बेचारा राजा थकान के कारण बहुत व्याकुल था। अब रात हो चुकी थी। वह आवाज लगा रहा था कोई है? मेरी रक्षा करो!" संयोग की बात आगे जाकर किसी मनुष्य की आवाज सुनाई दी। उसी आवाज के सहारे वह एक झोपड़ी के समीप पहुँच गया। झोपड़ी में उसने आवाज लगाई। अंदर से आवाज आई–"आप कौन हैं?" राजा ने कहा–"मैं एक राहगीर हूँ।" अंदर से फिर आवाज आई–"यदि आप

राहगीर हैं तो हमारे अतिथि हैं, आइए।" राजा झोपड़ी के अंदर पहुँचा और धन्यवाद करते हुए कहा–"आपने मुझे रात में ठहरने का स्थान दिया।" वहाँ एक महिला थी। उसने कहा–आप काफी थके हुए लगते हैं। मैं कुछ पीने के लिए लाती हूँ। वह बुढ़िया झोंपड़ी के पीछे लगे अनार के वृक्ष पर से एक अनार तोड़कर लाई और उसका जूस निकालकर राजा को पिलाया।

राजा तृप्त हुआ। बुढ़िया अम्मा ने उसे एक खाट विश्राम के लिए दी। प्रातःकाल होते ही, राजा ने उस वृद्धा से नगर का रास्ता पूछा और वापस नगर पहुँच गया। थोड़ी ही देर में सारथी भी पहुँच गया तथा रथ भी मँगवा लिया गया। राजा के सकुशल लौटने पर समस्त नगरवासी अत्यंत प्रसन्न हुए।

राजा ने कहा–"मुझे अनार का जूस अत्यंत स्वादिष्ट लगा, मैं वही रस पुनः पीना चाहता हूँ''। लोगों ने कहा–"महाराज! इसमें कौन-सी बड़ी बात है।" उन्होंने चार-पाँच अनार लाकर उनका रस निकाला, किंतु लगभग एक लोटा जूस निकाला। राजा को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जंगल में तो वृद्धा माँ ने एक अनार से एक लोटा रस भी नहीं निकल सका था, यहाँ चार-पाँच अनार में भी उतना जूस नहीं निकला।

तब लोगों ने कहा–"महाराज! वहाँ की भूमि अत्यंत उर्वर होगी, इसलिए ऐसा हुआ होगा।" तब राजा ने कहा–यहाँ से दो कोस की दूरी पर वृद्ध माँ की झोपड़ी हैं, वहाँ उसके बगीचे पर कितना लगान लगता है? मंत्री ने उत्तर दिया–महाराज! केवल दो आने वार्षिक लगान लगता है।

राजा बोला–'बस दो आने'। उसकी लगान बढ़ाकर दो रुपये वर्ष कर दो। अब वह बुढ़िया दो रुपये वर्ष देने लगी।

कुछ समय बाद राजा पुनः जंगल में उसी वृद्ध के यहाँ आया। वृद्धा ने पुनः राजा का स्वागत किया और जूस के लिए बगीचे से अनार लेकर आई। राजा को इस बार घोर आश्चर्य हुआ कि अबकी बार बुढ़िया 10-12 अनार से भी एक लोटा जूस न निकाल पाई। राजा ने वृद्धा से उसका कारण पूछा। वृद्धा ने कहा अब हमारे राजा का भाव बदल गया है, दूषित हो गया है, उसने लगान बढ़ा दी है। प्रतीत होता है इसी कारण यहाँ के फलों ने भी अब अपना रस सुखा दिया है।

महानुभाव! इस सम्पूर्ण प्रसंग से यह स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि भावों पर बहुत कुछ निर्भर करता है। बाहरी साधन, धन, पद और वैभव क्षणिक है, परन्तु अंतर के भाव ही स्थायी प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जब भाव शुद्ध, शांत और संयमित होते हैं, तब विपरीत परिस्थितियाँ भी जीवन को विचलित नहीं कर पातीं और जब भाव अशुद्ध होते हैं, तब सुख के बीच भी अशांति बनी रहती है।

अतः हमें चाहिए कि अपने भावों को पवित्र और संतुलित रखें। राग, द्वेष, मोह और अहंकार से दूर रहें, और हर परिस्थिति में जागरूकता और संयम बनाए रखें, क्योंकि अंततः शुद्ध भाव ही मुक्ति का मार्ग हैं, और अशुद्ध भाव ही बंधन का कारण।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

कर्तव्य

महानुभाव! आप सभी जानते हैं कि कर्तव्यशील व्यक्ति समाज में सम्माननीय और प्रेरणीय होता है। कर्तव्यहीन व्यक्ति निंदा का पात्र होता है। एक कर्तव्यशील पशु कर्तव्यविहीन व्यक्ति से अच्छा माना गया है।

यदि कोई गुलाम भी अपने कर्तव्य का पालन करता है, तो वह प्रशंसा का पात्र बन जाता है। और यदि कोई शासक अपने कर्तव्य को नहीं निभाता, तो वह भी निंदा को प्राप्त होता है। जैसे नर्सरी का विद्यार्थी 99% अंक लाता है, तो वह सम्मान का पात्र बनता है और उसे पुरस्कार दिया जाता है। वहीं M.A. का विद्यार्थी भी यदि फेल हो जाता है, तो उसे पुरस्कार नहीं दिया जा सकता। इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक व्यक्ति की पहचान उसके कर्तव्य पालन से ही होती है।

सभी जीवों के अपने-अपने कर्तव्य हैं और अपने-अपने स्थान हैं। कोई व्यक्ति जिस स्थान पर स्थित है, उसी स्थान पर रहकर अपने कर्तव्य का पालन करे, वही उचित है। क्योंकि स्थान के अनुसार ही कर्तव्य निर्धारित होते हैं। इसलिए नारायण श्रीकृष्ण ने गीता में लिखा है–'कर्त्तव्यमेव धर्मः' कर्तव्य का पालन करना ही धर्म है।'

जो व्यक्ति अपने धर्म (अर्थात् कर्तव्य) का पालन न करके दूसरों के कर्तव्य का पालन करे, तब भी वह धर्मात्मा

नहीं बन सकता। अपने कर्तव्य का उल्लंघन करके दूसरों की क्रिया करे, तो वह दण्ड का भागीदार होता है।

''जिसका काम उसी को साजे, ओर करे तो डंडा बाजे।।''

यदि कुत्ता घर में रहता है, तो उसका काम भौंकना है। वह चोर को देखकर भौंकता है, इसलिए उसका सम्मान होता है। यदि वह चोर के आने पर भौंके ही नहीं, तो उस पर भी डंडे पड़ेंगे। इसी प्रकार, जो काम जिसका है, वही उसे करना चाहिए।

बालक का काम बालक करे, पालक का काम पालक करे। यदि बालक पालक का काम करने लगे और पालक बालक का काम करने लगे, तो दोनों ही अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाते हैं। यदि गुरु का काम शिष्य करने लगे और शिष्य का काम गुरु करने लग जाए, तो दोनों ही प्रायश्चित के अधिकारी हैं। इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों को समझें और उसी के अनुसार कार्य करें। यदि श्रावक का काम मुनि करने लग जाएँ और मुनि का काम श्रावक करने लग जाएँ तो दोनों ही प्रायश्चित के अधिकारी हैं। क्योंकि जो व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करता है, उसी को अपने अधिकारों को रखने का अधिकार होता है। जो अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता, वह अपने अधिकारों का सही उपयोग नहीं कर सकता। अतः कर्तव्यों का पालन किए बिना अधिकारों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

कर्तव्य जब भी ठहरते हैं तो चित्त की भूमि पर ठहरते हैं; और अधिकार जब भी ठहरते हैं तो कर्तव्य के धरातल पर ठहरते हैं। जहाँ पर कर्तव्य का धरातल है, वहीं पर अधिकार हैं; बिना उस धरातल के अधिकार ठहरते नहीं हैं, जैसे बिना नींव का कोई मकान ठहरता नहीं है।

कर्तव्यों की शुरुआत घरों से ही होती है। माता-पिता का अपनी संतानों के प्रति कर्तव्य होता है और संतानों का अपने माता-पिता के प्रति कर्तव्य होता है। ताली दोनों हाथों से बजती है, एक हाथ से ताली कभी नहीं बजती। यदि कोई पक्षी आकाश में गमन करता है तो दोनों पंखों के माध्यम से। यदि कोई व्यक्ति गमन करता है, तो दोनों पैरों के माध्यम से। यदि एक पैर काम करने में असमर्थ होता है, तो वैसाखी का सहारा लेकर चलता है किंतु तो आवश्यकता दोनों पैरों की ही आवश्यकता होती है।

महानुभाव! आचार्य भगवन् कुंदकुंद स्वामी जी, जिनका तमिल भाषा में एक नाम तिरुवल्लुवर भी कहा जाता है, उन्होंने कुरल काव्य नामक ग्रंथ; जिसे तमिल में पंचम वेद माना जाता है, उसमें लिखा है कि माता-पिता का बालक के प्रति क्या कर्तव्य है। तब बताया-माता-पिता अपने बालक को इतना संस्कारित बनाएँ कि सामने वाला व्यक्ति कहे कि यह कितना पुण्यात्मा बालक है। वह बालक सभ्य पुरुषों की सभा में प्रथम पंक्ति में बैठने योग्य बन जाए। ऐसे संस्कार बालक में विकसित करना ही माता-पिता का कर्तव्य है।

बालक का माता-पिता के प्रति कर्तव्य यह है कि बालक ऐसा संस्कारवान्, सुशील और गुणज्ञ हो, जिसे देखकर संसार के प्राणी उसके माता-पिता से पूछ लें कि भैया! तुमने पूर्वभव में कौन सा पुण्य किया था, जो तुमने ऐसा बेटा प्राप्त किया। दोनों को अपने कर्त्तव्यों का पालन करना आवश्यक है, किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सबसे पहले यह देखना है कि अपने कर्तव्यों का पालन पहले कौन करे–बालक या पालक? पहले तो पालक ही अपने कर्तव्य का पालन करें, क्योंकि बालक तो अभी छोटा है।

और दूसरी बात ये है कि बालक को बनाने वाला पालक है। पालक बालक को जैसा बनाना चाहे वैसा बना सकता है। पालक तो उस कुम्हार की तरह है, जो मिट्टी को जैसे चाहे वैसे आकार दे सकता है। वह मिट्टी की चिलम (हुक्का) भी बना सकता है और मंगल कलश भी बना सकता है। खिलौने भी बना सकता है और दीपक भी बना सकता है। यह सब कुम्भकार पर ही निर्भर करता है। यदि कुम्हार मिट्टी का शोधन न करे, मिट्टी में कोई कंकड़ रह जाए, तो वह मटका दोषयुक्त बनता है। इसमें गलती मटके की नहीं, कुम्हार की होती है।

इसलिए कुम्हार को पहले थोड़ा परिश्रम करना चाहिए। प्रमाद को छोड़ देना चाहिए। उस मिट्टी का बार-बार शोधन करना चाहिए, जिससे मटका अच्छे से बने। कलश बनाते समय पूरी जागरूकता, पूरी सावधानी होनी चाहिए। यदि

कलश टेढ़ा हो गया, तो जीवनभर टेढ़ा ही रहेगा। धूप दिखाने पर भी टेढ़ा ही रहेगा, अग्नि पक्व करने पर भी टेढ़ा ही रहेगा। उसे सीधा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार बालक का निर्माण भी बहुत हद तक पालक पर ही निर्भर करता है।

माता-पिता को माली की तरह से होना चाहिए। बालक बीज की तरह से है। बीज को डाल दिया, अब वह पौधा हो गया। माली चाहे तो उस पेड़ को सीधा भी रख सकता है, उस पेड़ को अच्छा बना सकता है, चाहे तो टेढ़ा भी कर सकता है। माली के ऊपर निर्भर करता है कि वह कैसा पेड़ बनाना चाहता है। गलती पेड़ की नहीं है, माली की है।

कोई चित्रकार जिसके पास पर्याप्त मात्रा में रंग हैं, वह चित्रकार उन रंगों के माध्यम से जैसा चाहे वैसा चित्र बना सकता है। उसने चित्र राक्षस का बनाया है या किसी परमात्मा का, वह चित्र किसी पशु का है या नारकी का, ऐसा चित्र जिसे देखकर कोई भी मोहित हो सकता है अथवा ऐसा चित्र जिसे देखकर कोई भी मूर्च्छित हो जाए। गलती रंगों की नहीं चित्रकार की है। काले रंग के माध्यम से भी सुंदर चित्र बनाए जा सकते हैं। यदि रंग काले हैं तो क्या हुआ, काले रंग से सांवलिया पार्श्वनाथ भगवान की मूर्ति भी बनाई जा सकती है।

इसी प्रकार खाली किताब हो, उस पर जो लिखना चाहें, वह लिख सकते हैं। उस नोटबुक की कोई गलती नहीं, उसने स्वयं का समर्पण आपके हाथों में कर दिया। आप

लिखने वाले हो, जैसा चाहे वैसा लिख सकते हो। आपके हाथ में खाली कैसेट है, उसमें क्या भरना है, यह आपके ऊपर निर्भर करता है, चाहे भजन हो या गाने।

गलती साधनों की नहीं है, गलती निर्माण की है। उसने जिस प्रकार से बनाया है, वह उसी प्रकार का बन गया है। मनुष्य को कैसा बनाना है, यह उसके ऊपर निर्भर करता है। कोई महान भी बन सकता है, कोई असफल भी हो सकता है।

महानुभाव! नीतिकारों ने माता-पिता को कहीं कुम्हार कहा है, कहीं शिल्पकार कहा है, कहीं चित्रकार कहा है, कहीं माली कहा है, कहीं ड्राइवर कहा है। ड्राइवर जहाँ चाहे अपनी गाड़ी को वहाँ ले जा सकता है। जैसे महावत अपने अंकुश से हाथी को जहाँ ले जाना चाहे ले जा सकता है, उसी प्रकार माता-पिता अपने बच्चों को संस्कार देकर के, जैसा चाहे वैसा ढाल सकते हैं।

यदि बच्चों में गलत संस्कार आ गए हैं, तो यह मानना होगा कि 90% गलती माता-पिता की है, 10% बालकों की मान सकते हैं। माता-पिता दोषी हैं। जिन्होंने धातु-उपधातु के माध्यम से जीव का निर्माण किया। जैसा आहार माता ने ग्रहण किया उसी अनुरूप उस गर्भस्थ जीव ने आहार वर्गणाएँ ग्रहण कर अपने शरीर का निर्माण किया। इस शरीर में जो संस्कार दिए गए हैं, वे संस्कार तो माता-पिता के ही हैं। वह जीव तो अपना पुण्य-पाप लेकर आया है पर शरीर बनाने के संस्कार तो आपके हैं।

माता-पिता बालक को जन्म देने से पहले प्रभु से प्रार्थना करें, हे प्रभु! मैं बाल-ब्रह्मचारी नहीं बन पाया, मैं संसार में फँस गया, अब मैं प्रार्थना करता हूँ, मेरे कोई ऐसा पुत्र या पुत्री पैदा हो, जो भविष्य में संसार से पार होने का रास्ता देखे और दिखाए। यदि ऐसी भावना के साथ संतान की वृद्धि की जाती है, तब मैं समझता हूँ कि संतति वैसी ही होती है। जब संतान की वृद्धि ऐसी की जाती है कि भूल से हो गई।

प्राय:कर के आज की संतान भूल से ही पैदा हो जाती है। जब जीव अनचाहे रूप से आता है, तो जो लोग धर्म से दूर हैं उसे अलग करवा देते हैं, हत्या करवा देते हैं। जो माँ-बाप अपने ही बेटे-बेटी का कत्ल कर सकते हैं, वे दुनिया में किसी को नहीं छोड़ सकते हैं। वे परमात्मा पर भी अत्याचार कर सकते हैं। जो अपने अंश को नहीं छोड़ सकता, वह अन्य को कैसे छोड़ सकता है? ऐसे व्यक्ति से जीवन में कभी मित्रता नहीं करना चाहिए। ऐसे व्यक्ति पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। ऐसा व्यक्ति कभी हृदय से धर्मात्मा नहीं हो सकता, जो अपने ही अंश पर कुठाराघात कर दे या करा दे। लोग कहते हैं-

धूल से पैदा हुए, धूल में मिल जाएँगे।
किन्तु जितने दिन जिएँगे, फूल से मुस्कुराएँगे॥

किन्तु आजकल तो-

भूल से पैदा हुए, धूल में मिल जाएँगे।
जब तक संसार में जिएँगे, तब तक आँसू बहाएँगे॥

आज कहाँ हँसने मुस्कुराने की बात है, फूल सा जीवन कहाँ रहा? जीवन तो काँटों की तरह हो गया है। जो एक दूसरे के लिए दिन-रात चुभते रहते हैं। माता-पिता को बच्चे चुभ रहे हैं, बच्चों को माता-पिता चुभ रहे हैं।

आजकल बच्चे भी माता-पिता से संतुष्ट नहीं हैं, और माता-पिता भी बच्चों से संतुष्ट नहीं हैं। बच्चों के बस की हो तो माता-पिता को बाजार में बेचकर दूसरे ले आएँ और माता-पिता के बस की हो तो अपने बच्चों को बेचकर दूसरे बच्चे ले आएँ। किन्तु जीवन में सब कुछ पैसों से नहीं मिलता है। अच्छा पुत्र, अच्छे माता-पिता आदि पैसों से प्राप्त नहीं किए जा सकते। अच्छी कोठी, अच्छा मकान, अच्छी गाड़ी तो पैसों से खरीदी जा सकती है, परंतु अच्छा परिवार, अच्छा माहौल पैसे से तैयार नहीं किया जा सकता। अच्छा परिवार, संस्कारों से बनता है, पैसों से नहीं। अच्छा परिवार प्यार से चलता है, पैसे से नहीं। पैसे से व्यापार चलता है, उस व्यापार की समस्याएँ मेहनत और पूँजी से दूर की जा सकती हैं।

स्वास्थ्य की समस्या डॉक्टर की दवाई से दूर की जा सकती है; किन्तु परिवार की समस्या केवल पैसों से दूर नहीं होती। यदि बालक रो रहा है और आपने उससे बचने के लिए पैसे पकड़ा दिए, मोबाइल दे दिया, चॉकलेट पकड़ा दी, किन्तु संस्कार नहीं दिए, तो वह भी बुढ़ापे में आपको चॉकलेट पकड़ा देगा। तुम्हें प्यार व स्नेह हरगिज नहीं देगा।

महानुभाव! आज आवश्यकता है अपने कर्तव्यों को समझने की। कहीं आज की भौतिक चकाचौंध में हम अपने ही जीवन को अंधकारमय तो नहीं बना रहे। यदि माता-पिता को अपने कर्तव्य का भान हो गया, तो मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि बच्चों को भी स्वाभाविक रूप से अपने कर्तव्यों का ज्ञान हो जाएगा; किन्तु आज का जमाना शॉर्टकट का जमाना है। सब कुछ शॉर्टकट, नाम भी शॉर्टकट। किसी का नाम महावीर प्रसाद होगा तो क्या कहेंगे—एम.पी. जैन। यदि नाम विमल प्रसाद है तो वी.पी. जैन कह देते हैं।

जिस परिवार में नाम शॉर्ट में लिए जाते हैं, उस परिवार वालों की सोच भी शॉर्ट हो जाती है। उनके मन में उदारता व करुणा की भावनाएँ भी कम हो जाती हैं। आज हम हर जगह शॉर्टकट चाहते हैं। लॉन्ग कट से कोई चलना ही नहीं चाहता। इसी शॉर्टकट की बुरी प्रवृत्ति ने जीवन को भी शॉर्टकट बना दिया है। इसलिए हमारे बच्चों के नाम भी शॉर्टकट में नहीं हों।

व्यक्ति प्रायः जिंदगी में यह चाहता है कि कम काम करें और ज्यादा पाएं। बच्चों के साथ भी आप ऐसा व्यवहार करना चाहते हैं कि उन्हें कम दें और उनसे ज्यादा पाना चाहें। जो व्यक्ति ऐसा सोचता है—"मैं कम काम करूँ और मुझे ज्यादा फल मिल जाए" ऐसे व्यक्ति को कभी ज्यादा फल नहीं मिलता।

कई बार ऐसा होता है कि बिना परिश्रम किए फल मिल जाता है, परंतु वह स्थायी नहीं होता। जो व्यक्ति परिश्रम

से ज्यादा पारिश्रमिक चाहता है, वह कभी मिलता नहीं परंतु जो व्यक्ति परिश्रम के बराबर पारिश्रमिक चाहता है, उसे नियम से फल मिलता है। परंतु जब कोई व्यक्ति कम परिश्रम करके ज्यादा परिणाम प्राप्त करना चाहता है, तो कभी ऐसा भी हो सकता है कि परिश्रम करने पर भी उसे फल न मिले।

महानुभाव! संस्कार देने के लिए केवल विद्यालय ही नहीं, अपितु सर्वप्रथम आवश्यक है घर का माहौल भी संस्कारमय हो। जिस घर में संस्कार होते हैं, उस घर को कोठी या मकान मत कहो, उस घर को मंदिर कहना चाहिए। जितनी शांति मंदिर में मिलती है, उतनी शांति उस संस्कारवान घर में भी मिल सकती है। यदि संस्कार नहीं हैं, तो मंदिर में जाकर भी मन में क्लेश रहेगा।

संस्कार का प्रारंभ होता है कर्तव्यों का पालन करने से। जब व्यक्ति अपने कर्तव्यों को समझकर उनका ईमानदारी से पालन करता है, तभी उसके जीवन में सच्चे संस्कार विकसित होते हैं। कर्तव्य ही वह आधार है, जिस पर चरित्र का निर्माण होता है और जब चरित्र मजबूत होता है, तब जीवन में शांति, संतोष और सफलता अपने आप आ जाती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने कर्तव्यों को पहचाने, उन्हें पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ निभाए, और अपने जीवन को संस्कारों से युक्त बनाकर एक आदर्श जीवन की ओर अग्रसर हो।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

जैन धर्म का प्राण-भावनाएँ

महानुभाव! प्रारंभ एक प्रसंग से करते हैं–एक व्यक्ति भट्ठी जलाकर ताँबे को तपा रहा था, उसे काट, छाँट रहा था, ढाल रहा था। ऐसे लगभग पाँच-दस लोग उस फैक्ट्री में काम कर रहे थे। एक व्यक्ति सामने से निकला। उसने एक मजदूर से पूछा– "भैया! तुम क्या कर रहे हो?" वह बड़ी दयनीय आवाज में बोला–"देख नहीं रहे? मैं अपनी देह को जला रहा हूँ।" आगे बढ़कर दूसरे व्यक्ति से पूछा–"भैया! आप क्या कर रहे हो?" उसने उत्तर दिया– "तुम देख नहीं रहे? मैं इस धातु को काट रहा हूँ।" तीसरे व्यक्ति से पूछा–तो उसने कहा–"भाई! मैं अपने बच्चों का पेट पाल रहा हूँ।" अगले व्यक्ति से वही प्रश्न पूछा–उसने कहा–"मैं अपना टाइम पास कर रहा हूँ।" फिर अगले व्यक्ति से पूछा–तो उसने कहा–"मैं प्रभु परमात्मा के अभिषेक के लिए मंगल कलश बना रहा हूँ।"

महानुभाव! दृश्य एक है, घटना एक है, कार्य भी लगभग सभी एक जैसा ही कर रहे हैं, किन्तु सबकी दृष्टि में अंतर विशेष है। अंतर क्यों आया? कार्य तो एक ही है, तो शब्दों में अंतर क्यों? कारण यह है कि सबकी भावनाओं में अंतर है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वही कार्य दिखाई देता है। एक ने कहा– "मैं भट्ठी में अपनी देह जला रहा हूँ।" दूसरे ने कहा– "मैं धातु को काट रहा हूँ।"

जो भट्ठी में देह जला रहा है, निःसंदेह उसकी भावना यही है कि वह अपने शरीर को ही जला रहा है; उसकी दृष्टि में प्रभु परमात्मा के अभिषेक के लिए कलश बना रहा हूँ, यह विचार तो स्वप्न में भी आ नहीं सकता। जो कह रहा है–"मैं धातु को काट रहा हूँ", उसकी दृष्टि केवल क्रिया तक सीमित है। संभव है उसकी कृष्ण लेश्या होगी इसलिए "काटने, फाड़ने, चीरने" जैसे शब्द उसके मुख से निकल रहे हैं। अन्यथा जैन श्रावक-श्राविका अपने मुख से यह नहीं कहते कि "इसे काट दो, चीर दो।" ऐसे शब्द तो भावी नारकी बोलता है, जो नरक में जाता है।

महिलाएँ कहती हैं–"सब्जी सुधार दो, संभाल दो।" दुष्ट व्यक्ति के मुख से ही ऐसे कठोर शब्द निकलते हैं–"मैं तुझे मार दूँगा, काट दूँगा, चीर-फाड़ कर दूँगा।" ऐसी भाषा भविष्य के नारकी की है, देवगति में जाने वाले जीवों की, शिष्टाचारी जीवों की भाषा इष्ट, मिष्ट और शिष्ट होती है। अशिष्ट जनों की भाषा कठोर, अप्रिय, कटुक और पीड़ादायक होती है।

अगले व्यक्ति ने कहा कि मैं अपने बच्चों का पालन-पोषण कर रहा हूँ। उसका उद्देश्य केवल पालन-पोषण करना है। उसकी भावनाओं में यही है कि– "मैं इस फैक्ट्री में काम कर रहा हूँ ताकि मेरे परिवार का भरण-पोषण हो सके।" एक ने कहा–"मैं टाइम पास कर रहा हूँ, मुझे धन की लालसा नहीं है।" वह जीवन को गप लगाने में व्यतीत कर रहा है, निरुद्देश्य जीवन जी रहा है और एक व्यक्ति वह है, जिसकी भावनाओं में यह कार्य प्रभु अभिषेक के लिए

निर्मित कलश निर्माण का है। वह भी वही कार्य कर रहा है, सभी को उस कार्य की मजदूरी समान मिल रही है, किन्तु भावों में यह अंतर है कि–"मैं प्रभु के अभिषेक के लिए कलश बना रहा हूँ।" सब भावनाओं का ही खेल है।

एक व्यक्ति प्रातःकाल सूर्योदय होने से पहले अपने घर का दरवाजा खोलकर बाहर आया और बाहर खड़ी नई कार पर कपड़ा लगा रहा था। ऐसा लगता था कि वह कार कल शाम ही शोरूम से लाकर खड़ी की गई होगी। पड़ोसी ने दरवाजा खोला और देखा कि–"मेरे पड़ोसी के पास नई कार! जबकि उसके पास पहले स्कूटी खरीदने के लिए भी पैसे नहीं थे, तो आज कार कहाँ से ले आया?" उसने पूछा–"भाईसाहब! यह कार कहाँ से ले आए?" वह चुप रहा। दूसरा प्रश्न किया–"कितने की खरीदी?" उसने कहा–"मुझे मालूम नहीं।" अरे! कैसी बात करते हो? "क्या रात में आकाश से आपके घर के आगे टपकी थी या जमीन खोदकर आ गई।'' वह बोला–"नहीं, ऐसी बात नहीं है।"

तो फिर? उसने कहा–"दरअसल बात यह है कि हम दो भाई हैं। बाल्यकाल में ही हमारे पिताजी हमें छोड़कर चले गए। कुछ दिनों बाद माँ ने भी साथ छोड़ दिया। दोनों स्वर्गवासी हो गए। मैं और मेरा छोटा भाई था। मैं चाहता था कि मेरा छोटा भाई पढ़े-लिखे। इसलिए मैंने बैंक में चपरासी की नौकरी कर ली। मैंने उससे कहा–'भाई! तू चिंता मत करना, मैं तुझे बहुत पढ़ाना चाहता हूँ।' मैंने बहुत मेहनत की, दो जोड़ी कपड़ों में सालभर रहा, कई दिनों तक नंगे पैर भी घूमता रहा। किन्तु मैंने अपने भाई को पढ़ाया और

भावनाओं का प्रभाव यह हुआ कि मेरा भाई पढ़-लिखकर IAS बन गया। जब वह कलेक्टर बना, तो सरकार की ओर से उसे बंगला भी मिला और गाड़ी भी मिली। किन्तु मेरे भाई ने वह गाड़ी और बंगला उपयोग नहीं किया।

उसने कहा–"मेरा बड़ा भाई मेरे लिए पिता तुल्य है। उसने मेरे लिए कितनी बार सिर्फ एक समय का भोजन किया, पैसे बचा-बचाकर मुझे पढ़ाया, मेरी फीस जमा कराई और मुझे यहाँ तक पहुँचाया है। मैं अपने भाई का उपकार भूल नहीं सकता। मैं इस गाड़ी में पैर भी नहीं रखूँगा, जब तक मेरा भाई इसमें नहीं बैठेगा।"

वह बोला–"भाई! यह गाड़ी न तो मैंने चोरी की है, न आकाश से आई है, न जमीन फाड़कर निकली है। यह गाड़ी तो मेरे छोटे भाई ने मुझे भेंट की है।" वह पड़ोसी आकाश की ओर हाथ फैलाकर कहता है–"काश! मेरे पास भी ऐसी गाड़ी होती, तो क्या आनंद आता।" बड़े भाई ने कहा–"ऐसा क्यों कहते हो कि मेरे पास ऐसी गाड़ी होती? जब कहना ही है, भगवान से माँगना ही है, तो भगवान से यह क्यों नहीं कहते–'काश! मेरे पास भी ऐसा एक भाई होता।' तभी वहाँ से एक संत पुरुष जा रहे थे। उन्होंने दोनों की बातें सुनी और कहा–"भाई! जब भगवान से हाथ फैलाकर माँगते ही हो, तो क्यों गाड़ी माँगते हो? क्यों ऐसा भाई माँगते हो? माँगना ही है तो ऐसा क्यों नहीं माँग लेते कि–हे भगवान! काश! मैं एक ऐसा भाई बन जाऊँ कि अपने सभी भाइयों को गाड़ी बाँट सकूँ।"

महानुभाव! सोच-सोच का अंतर है, भावनाओं का खेल है। यदि दृष्टि बदलती है, तो सब कुछ बदल जाता है।

हमारे शास्त्रों में लिखा है—**“भावना भव-नाशिनी, भावना भव-वर्द्धिनी।”**

एक ग्रास का आहार देने वाला भी तीर्थंकर बन सकता है। भावना के माध्यम से एक दिन, एक चुल्लू भर जल से पूजा करने वाला, पाँच कौड़ियों से पूजा करने वाला या पुष्प चढ़ाकर पूजा करने वाला, अथवा ज्वार के दाने चढ़ाकर पूजा करने वाला व्यक्ति निःसीम वैभव को प्राप्त कर सकता है। यह सब भावनाओं का ही प्रभाव है।

यदि हमने अपनी भावनाओं को शुद्ध कर लिया, तो समझना चाहिए कि हमने धर्म के मर्म को प्राप्त कर लिया, धर्म के सार को प्राप्त कर लिया, धर्म के प्राण को प्राप्त कर लिया। और भावना शुद्ध न कर पाए, केवल क्रियाओं में उलझकर रह गए, तो समझना चाहिए कि अभी हमने धर्म का आवरण तो प्राप्त कर लिया। किन्तु आत्मा के जागरण तक नहीं पहुँचे। धर्म केवल आवरण में रहना नहीं सिखाता है, धर्म तो आत्मा के जागरण का उपाय है।

अब आत्मा में कितना जागरण हो रहा है? कई बार सभाओं में लोग प्रशंसा करते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़े धर्मात्मा हैं, प्रतिदिन पूजा-पाठ करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, दान देते हैं। एक बार उनसे भी पूछ लो कि—“क्या ये सत्य कह रहे हैं, क्या वास्तव में आपकी आत्मा में धर्म है?” यदि आत्मा में धर्म है, तो वह घर में भी दिखाई देगा, मंदिर में भी दिखाई देगा, दुकान में भी दिखाई देगा। आत्मा में धर्म है तो हर जगह उसका प्रभाव दिखाई देगा। आत्मा में

धर्म है तो वह कलह नहीं करेगा, अपशब्द नहीं बोलेगा। आत्मा में धर्म है तो कोई सास बहू-बेटी में अंतर नहीं कर सकती, दोनों में पुत्रीवत् वात्सल्य व्यवहार करेगी।

आत्मा में धर्म है तो जीव की क्रिया-चर्या में परिलक्षित होगा–उसकी वाणी, भाषा और व्यवहार में दिखाई देगा। आत्मा में धर्म है तो व्यापार में भी ईमानदारी का परिचय देगा। ईमानदारी से व्यापार करोगे तो जीवन भर सुखी रहोगे, तुम्हारे जीवन में कभी कमी नहीं आएगी। जिस दिन आपकी नियत बिगड़ गई, बेईमानी का भाव आ गया, फिर जीवन भर कमाकर भी कभी पूर्ति न कर पाओगे।

एक बात हम हमेशा कहते हैं–जिस रसोई में सबके भोजन करने के उपरांत भी एक या दो व्यक्तियों का भोजन बचता है; जो गाय को या भिखारी आदि किसी जीव को दे दिया जाता है, उस रसोई में कभी भी भोजन की कमी नहीं पड़ेगी। इस बात को नोट करके देख लेना। और जिस रसोई में भोजन बनाना है छह व्यक्ति का और सोचें पाँच का बना लें, उसी में काम चल जाएगा, उस रसोई में चार लोगों ने भोजन किया, तब भी भोजन कम पड़ गया।

जिस व्यक्ति की रसोई में भोजन की कमी पड़ती है, तो समझ लेना कि वहाँ भावनाओं की शुद्धि नहीं है और जिस व्यक्ति की रसोई में उदारता का भाव होता है, वहाँ कभी कमी नहीं आती। दो व्यक्ति खाने वाले हैं, तो तीन का भोजन बनाने की कोशिश करो। अगर ऐसी भावना होगी, तो दो व्यक्तियों की रसोई में भी तीन का भोजन निकल सकता है। कम बनाओगे, तो व्यक्ति खाते-खाते भी सोचता

रहेगा–"कहीं भोजन कम न पड़ जाए।" ऐसा लग रहा है कि मैं भोजन कर रहा हूँ या किसी के अभिशाप को ग्रहण कर रहा हूँ। जो खिलाने वाला है, वह भी सोच रहा है कि–"छह रोटी ले ली, अभी भी खाए ही जा रहा है।" कितना खाएगा, आदमी है या पशु। यदि ऐसी भावना से कोई खिलाएगा, तो खाने वाले के तन-मन को नहीं लगेगा।

कई बार अशुद्ध भावनाओं के साथ आहार भी दे दिया जाता है, तो दस्त लग जाएँगे, बीमार हो जाएँगे या कुछ और अनिष्ट होगा। अतः शुद्ध भावनाओं से दें। कई बार ऐसा होता है कि दो-चार व्यक्तियों के लिए भोजन बनाया या त्यागी-व्रतियों के लिए चौका लगाया, परन्तु आठ-दस भी आ जाएँ तो भी कमी नहीं पड़ती। भावनाओं से बरकत होती है। भावनाएँ शुद्ध हो जाएँ तो बरकत की कमी नहीं रहती। और भावनाएँ अशुद्ध हों तो बरकत नहीं हो पाती।

महानुभाव! जैन दर्शन का प्राण, मूल आधार और धर्म का बीज कोई है तो वह है 'भावना'। हम और आप अपनी भावनाओं को शुद्ध रखें। शरीर को शुद्ध करने के लिए दिन में एक-दो बार स्नान कर लेते हैं, वस्त्रों को धोकर पहनते हैं, हाथ भी दिन में कई बार धो लेते हैं; किन्तु मन को भी स्नापित करना चाहिए। मन में कहीं कुविचार जन्म न ले लें। किसी का कुसंस्कार आकर मन में टिक न जाए, अन्यथा यह संक्रामक रोग आत्मा को रोगी बना देगा। शरीर रोगी होता है, तो संभव है उसे ठीक कर लिया जाए, किन्तु आत्मा रोगी हो गई तो दुर्गति में चली जाती है और अनेक प्रकार के दुःख देने वाली बन जाती है।

भावना शुद्ध कैसे करें? जैसे–यदि कोई वस्त्र बहुत मैला हो जाए, तो उसे गर्म पानी में साबुन लगाकर रगड़-रगड़कर साफ करते हैं। यदि ज्यादा ही चिकनाई वस्त्रों में लगी हो, तो मुंगेरी (थपकी) से पीट-पीटकर साफ करते हैं। उसी प्रकार–जिस व्यक्ति में कुसंस्कार अधिक हैं, मिथ्यात्व आत्मा के प्रदेशों में चिपका पड़ा है, कषाय का तीव्र उद्वेग है। ऐसे व्यक्ति की गुरुमहाराज शब्दों की मुगरिया लेकर पिटाई करते हैं। जब तक वाक्य रूपी बाण बार-बार नहीं लगेंगे तब तक मिथ्यात्व आत्मा से सहजता से निकलता नहीं है। न ही कषाय सहजता से शांत होती है।

भावनाओं को शुद्ध करने का एक ही उपाय है–सत्संग और सद्गुरु का सान्निध्य। यदि सद्गुरु की वाणी मिल जाए, तो चित्त की शुद्धि संभव है। और यदि एक बार सद्गुरु का सान्निध्य मिल जाता है, तो संभव है कि हमारी आत्मा सिद्धालय में जाकर विराजमान हो जाए।

महानुभाव! मनुष्य का कार्य नहीं, उसकी भावना ही उसके जीवन का वास्तविक मूल्य निर्धारित करती है। एक ही कार्य करने वाले व्यक्तियों की दृष्टि और भाव अलग-अलग हो सकते हैं–कोई उसे बोझ समझता है, कोई जीवन-निर्वाह का साधन और कोई उसे ईश्वर-सेवा के रूप में देखता है। इसी प्रकार भावनाओं के अनुसार ही कर्मों का फल भी भिन्न-भिन्न होता है।

शुद्ध और सकारात्मक भावनाएँ जीवन में उन्नति, शांति और बरकत लाती हैं, जबकि अशुद्ध भावनाएँ दुःख, अशांति

और पतन का कारण बनती हैं। धर्म का वास्तविक स्वरूप बाहरी क्रियाओं में नहीं, बल्कि हमारे भीतर की भावना में निहित है। यदि हमारी आत्मा में सच्चा धर्म है, तो वह हमारे व्यवहार, वाणी और आचरण में स्वतः प्रकट होगा। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने मन को शुद्ध रखें, कषायों को शांत करें और सभी जीवों के प्रति करुणा, दया और सद्भाव बनाए रखें।

सत्संग, सद्गुरु की वाणी और आत्मचिंतन के माध्यम से भावनाओं को निर्मल किया जा सकता है। जब भावनाएँ शुद्ध हो जाती हैं, तब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानकर मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है। इसलिए भावनाओं को शुद्ध करें।

धर्मात्मा के चार लक्षण बताए गए हैं–प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य। कषायों का उपशमन करें, धर्म–धर्म का फल तथा धर्मात्माओं के प्रति गहरा अनुराग एवं प्राणी मात्र के प्रति करुणा और दया का भाव रखें। अपने अस्तित्व का समीचीन बोध हो कि मेरी आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। स्वभाव से अमूर्तिक है, परंतु कर्मों के बंधन में बंधी हुई है। इसलिए मूर्तिक है। कर्मों के कारण ही जन्म-मरण के चक्र को प्राप्त हो रही है। अतः हमें अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहिए।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

सहनशक्ति ही शक्ति

महानुभाव! जीवन में यदि सुख और शांति की कामना है, तो निःसंदेह अग्नि परीक्षा देना बहुत आवश्यक है। अग्नि परीक्षा के मायने समझें तो जीवन में सहन शक्ति का आविर्भाव। सहनशक्ति के माध्यम से ही जीवन में सच्ची शांति का अनुभव संभव है। जब तक व्यक्ति में सहनशक्ति नहीं आती, तब तक वह अपने जीवन में सम्यक् और संपूर्ण सुख-शांति का अनुभव नहीं कर सकता। जो व्यक्ति अपनी सहनशक्ति को बढ़ाता चला जाता है, वह अनेक प्रकार की प्रतिकूलताओं, द्वन्दों और विपत्तियों से स्वयं ही बच जाता है।

इसे एक छोटे से उदाहरण से समझें—यदि एक गिलास पानी में एक मुट्ठी नमक डाल दिया जाए, तो वह पानी खारा हो जाता है और उसे पीना कठिन लगता है। किंतु यदि उसी एक मुट्ठी नमक को एक ड्रम पानी में डाल दें तो किंचित् खारापन आएगा और वही मुट्ठी भर नमक यदि किसी बड़े जलाशय में डाल दिया जाए, तो उसके स्वाद में कोई अंतर नहीं आता। अर्थात्, यदि हमारे भीतर सहनशीलता कम है, तो छोटी-छोटी बातें भी हमें कष्ट देती हैं। परंतु यदि हम अपनी सहनशक्ति का विस्तार कर लेते हैं, तो बड़ी से बड़ी प्रतिकूलताएँ भी हमें विचलित नहीं कर पातीं। जब तक हम प्रतिकूलताओं के सामने अपनी

सहनशक्ति को बोनी बनाकर रखते हैं, तब तक वे हमें प्रभावित करती रहती हैं। किंतु जैसे-जैसे हमारी सहनशीलता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे प्रतिकूलताओं का प्रभाव स्वतः ही कम होता चला जाता है।

हमें प्रतिकूलता को हटाना नहीं है और हटा भी नहीं सकते। किसी कर्म के उदय से प्रतिकूलता आई है, आने दो, हम अपनी सहनशीलता बढ़ाएँ। जब सहनशीलता बढ़ जाती है, तब जीवन की कठिन परिस्थितियाँ भी हमें साधारण प्रतीत होने लगती हैं। जब सहनशीलता नहीं थी तब हमें छोटी-छोटी बातें भी चुभती थी, छोटी-छोटी बातों का असर कई घंटों तक बना रहता था। जब सहनशीलता की कमी थी, तब सामान्य बातें भी अपने मस्तिष्क में रख लेते थे, और उनके कारण अपनी संक्लेशता बनाते थे, किन्तु जब से हमने अपने सहशीलता के पर्दे को बड़ा किया है तब से निःसन्देह हमारी आत्मा की शक्ति का आविर्भाव हुआ है और प्रतिकूलताएँ धीरे-धीरे समाप्त होती गई हैं।

महानुभाव! जीवन में सहन करना अत्यंत आवश्यक है। बिना सहन किए जीवन में कोई मार्ग ही नहीं खुलता। सहन करने से ही सफलता के मार्ग प्रशस्त होते हैं और सही समय पर सही सफलता प्राप्त होती है। सहन करना एक ऐसा द्वार है, जिसमें प्रवेश करने वाला व्यक्ति सफलता के उच्चतम स्तर तक पहुँच सकता है। जो व्यक्ति सहनशीलता के इस द्वार में प्रवेश ही नहीं करता, वह कभी भी सफलता की मंजिल तक नहीं पहुँच सकता।

अब यह आप पर निर्भर करता है कि आप किसे सहन कर सकते हैं—किसी वस्तु या व्यक्ति के अभाव को, अथवा उसके अच्छे-बुरे प्रभाव को। यदि आपके पास किसी वस्तु का अभाव है, तो उसे सहन करना होगा। और जब वह वस्तु प्राप्त हो जाए, तो उसके अच्छे या बुरे प्रभाव को भी सहन करने के लिए तैयार रहना होगा।

एक व्यक्ति पैदल चल रहा है, वह मार्ग की कठिनाइयों को सहन कर रहा है। दूसरा व्यक्ति साइकिल से जा रहा है, तो उसे साइकिल की गति और संतुलन को संभालना पड़ता है। वह जल्दी पहुँच सकता है, लेकिन यदि पंचर हो जाए या रास्ते में बाधा आ जाए, तो उसे साइकिल को भी खींचकर ले जाना पड़ता है—जो अपने आप में एक नई कठिनाई है अर्थात, सुविधा के साथ भी कठिनाइयाँ जुड़ी होती हैं।

यदि हम केवल अच्छे प्रभाव चाहेंगे, तो ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि हर वस्तु के साथ कुछ न कुछ विपरीत भी जुड़ा होता है। जैसे जीवन में केवल सुख ही नहीं होता, वैसे ही केवल दुःख भी नहीं होता। यदि हम प्रकाश चाहते हैं, तो अंधकार को भी स्वीकार करना होगा। यदि हम सुख के दर्शन करना चाहते हैं, तो दुःख का सामना भी करना पड़ेगा। जीवन में कभी भी ऐसा नहीं होता कि सदा सुख ही बना रहे या सदा दुःख ही चलता रहे। जीवन में अनुकूलता भी आती है और प्रतिकूलता भी आती है।

हमारे मित्र हमारे लिए बहुत कुछ करने को तैयार रहते हैं, हमारा उपकार करते हैं, हित करते हैं; परंतु जब कभी वे प्रतिकूल हो जाएँ, तो उसे सहन करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। जो व्यक्ति प्रतिकूलता को सहन नहीं करता, वह जीवन में कभी अनुकूलता का सच्चा सुख प्राप्त नहीं कर सकता। काँटों के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति ही पुष्पों को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। जो काँटों से घबराता है, वह फूलों का सुख नहीं पा सकता।

एक उदाहरण–एक व्यक्ति जंगल में प्यास से व्याकुल हो रहा था। तभी दूसरा व्यक्ति आया और उसने कहा– "यहाँ समीप ही जल है, चलो, मैं तुम्हें वहाँ ले चलता हूँ।"

पहला व्यक्ति उसके साथ चल पड़ा। जल पीने से उसकी प्यास तो शांत हो गई, किंतु वह स्थान ऊँचाई पर था और वहाँ पहुँचते-पहुँचते उसे थकान और कष्ट का अनुभव हुआ।

अब यदि वह व्यक्ति थकान से बचना चाहता है, तो उसे जल का लाभ नहीं मिलेगा। और यदि प्यास से बचना चाहता है, तो थकान को सहन करना ही पड़ेगा। अर्थात–एक कष्ट से बचने के लिए दूसरे कष्ट को सहन करना पड़ता है। इसी प्रकार यदि कोई भूखा व्यक्ति ऐसा स्वादिष्ट एवं गरिष्ठ भोजन करता है, जिससे पेट में कब्ज हो जाती है, गैस बनती है, तो उस कष्ट को भी सहन करने की सामर्थ्य रखे अथवा भूख को सहन करने की सामर्थ्य रखे।

जीवन की सच्चाई यही है कि जीवन में वस्तुएँ मिलती हैं, व्यक्ति मिलते हैं; परंतु वे हमेशा हमारे मन के अनुसार नहीं होते। कभी वे हमारे अनुकूल होते हैं, तो कभी प्रतिकूल भी होते हैं। वास्तव में तो हमारा मन भी हमारे अनुसार नहीं चलता, हमारा तन भी कई बार हमारे अनुसार नहीं चलता, तब स्वजन, परजन, मित्रजन का हमारे अनुसार चलना तो बहुत दूर की बात है। अन्य से अपने अनुसार चलने की अपेक्षा करना ही व्यर्थ है।

जीवन में सब कुछ एक जैसा कभी नहीं होता। जैसे इंद्रधनुष में सात रंग होते हैं और वे सभी अलग-अलग होते हैं, उन सात रंगों का अपना-अपना महत्व होता है। यदि सभी एक जैसे हो जाएँ तो इनद्रधनुष नहीं बनेगा। उसी प्रकार जीवन में भी विविधता ही उसका सौंदर्य है। यदि सब कुछ एक जैसा हो जाए, तो जीवन नीरस हो जाएगा। जैसे एक परिवार, संस्था, समूह में सभी व्यक्ति एक जैसे नहीं होते—कोई अधिक उपयोगी लगता है, कोई कम—वैसे ही जीवन में हर व्यक्ति और हर परिस्थिति का अपना-अपना स्थान और महत्व होता है।

जीवन में जो हमें दिखाई देता है, वह सब एक जैसा नहीं होता। जैसे किसी वृक्ष में अलग-अलग प्रकार की शाखाएँ, पत्तियाँ और फल होते हैं—कोई बड़ा, कोई छोटा, कोई मीठा, कोई कम मीठा—उसी प्रकार जीवन में भी विविधता स्वाभाविक है।

विद्यालय में पढ़ने वाले सभी विद्यार्थी समान परिणाम नहीं लाते। सभी की क्षमता, मेहनत और परिस्थिति अलग-अलग होती है। जैसे हाथ की पाँचों अंगुलियाँ एक समान नहीं होतीं, वैसे ही जीवन में भी समानता की अपेक्षा करना उचित नहीं है।

जीवन में कई बार ऐसा होता है कि जिसकी हमें आवश्यकता होती है, वह समय पर मिल जाता है। यदि हम उसका सदुपयोग करें, तो वह हमारे लिए अत्यंत लाभकारी सिद्ध होता है; परंतु यदि हम उसे व्यर्थ कर दें, तो वही वस्तु हमारे लिए बाधा भी बन सकती है। जैसे अस्पताल में आने वाले सभी रोगी एक जैसे नहीं होते, परिवार में रहने वाले सभी सदस्य एक समान नहीं होते, उसी प्रकार समाज और संसार में भी सभी व्यक्ति एक जैसे नहीं होते।

यदि आपके पास कोई वाहन है, तो उसके सभी भाग (parts) एक जैसे नहीं होते, किंतु प्रत्येक का अपना महत्व होता है। कोई छोटा है, कोई बड़ा—परंतु सभी आवश्यक हैं। इसी प्रकार मकान में भी अलग-अलग भाग होते हैं—कोई दीवार है, कोई खिड़की, कोई दरवाजा। सभी का अपना-अपना कार्य और महत्व होता है।

किसी भी व्यक्ति का जीवन केवल अपनी शर्तों पर नहीं चल सकता। उसे दूसरों की शर्तों और परिस्थितियों को भी स्वीकार करना पड़ता है। दूसरों की शर्त को स्वीकार किए बिना अपना जीवन संपूर्ण नहीं बनता। परिवार में जितने सदस्य होते हैं, उतने ही प्रकार के स्वभाव और व्यवहार

होते हैं और सबका पुण्य–पाप भी भिन्न होता है। उनका वैसा होना जरूरी भी है। हर व्यक्ति की प्रकृति अलग होती है, उनका दृष्टिकोण भी भिन्न होता है। जैसे वृक्ष में तना, शाखाएँ, पत्ते और फल सभी आवश्यक होते हैं—यदि इनमें से कोई एक भी न हो, तो वृक्ष पूर्ण नहीं रह सकता—उसी प्रकार परिवार और समाज में भी सभी का होना आवश्यक है।

परिवार में माता–पिता का होना आवश्यक है, भाई–बहनों का होना आवश्यक है, और बच्चों का होना भी आवश्यक है। यदि शरीर के किसी एक अंग को अलग कर दिया जाए, तो वह शरीर पूर्ण नहीं रह सकता।

शरीर में कोई एक अंग अत्यधिक विकसित हो जाए और अन्य अंगों की उपेक्षा हो, तो भी जीवन संतुलित नहीं रह सकता। यदि कोई कहे कि मेरा पूरा शरीर केवल पेट बन जाए, ताकि मैं केवल खाता ही रहूँ—तो यह संभव नहीं है। उसी प्रकार यदि कोई केवल सुनना ही चाहे या केवल देखना ही चाहे, तो भी जीवन संभव नहीं है। अर्थात, जीवन में संतुलन और समन्वय अत्यंत आवश्यक है।

महानुभाव! जीवन में सहन करना जरूरी है। इसलिए आप भी सहन करना सीखो। कम से कम उनको सहन करना तो सीख लो जो तुम्हें सहन करते हैं। माता–पिता ने बचपन में तुम्हारी हर जिद पूरी की, तुम्हारा बार–बार रूठ जाना, तुम्हारा दुर्व्यवहार करना। उस समय तुम्हारे माता–पिता ने तुमको कितना सहन किया। तुम्हारे भाई, बहिनों, मित्रों ने

तुमको कितना सहन किया। यदि आज उनको सहन करना भी हमें नहीं आया तो यही कहना चाहिए कि हमें अभी जीवन जीने का सूत्र दृष्टिगोचर नहीं हुआ, अभी जीवन जीने का सम्यक्मार्ग हमें नहीं मिला।

जीवन जीने की कला सहन करने से ही आती है। आज व्यक्ति अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त करना चाहता है—धन की शक्ति, तप की शक्ति, रूप की शक्ति, पद की शक्ति—परंतु इन सब शक्तियों से बढ़कर यदि कोई शक्ति है, तो वह सहनशक्ति है। यदि व्यक्ति सहनशक्ति को प्राप्त कर ले, तो अन्य सभी शक्तियाँ उसके सामने स्वतः ही छोटी पड़ जाती हैं। यदि सहन शक्ति है, तो संसार की कोई भी शक्ति हमें पराजित नहीं कर सकती।

सहनशक्ति के बिना प्राप्त की गई अन्य शक्तियाँ कभी-कभी व्यक्ति के लिए दुःख, विपत्ति और पतन का कारण भी बन सकती हैं परंतु यदि सहनशक्ति हमारे पास है, तो संसार की कोई भी विपरीत परिस्थिति हमें विचलित नहीं कर सकती। इतिहास इस बात का साक्षी है यदि किसी ने अत्याचार, विरोध और प्रतिकूलता की शक्ति का सामना किया है, तो वह सहनशक्ति के कारण ही संभव हुआ है।

महापुरुषों की सहनशक्ति के आगे अत्याचारी भी नतमस्तक हो जाते हैं। उनके धैर्य और सहनशीलता के सामने संसार की सभी शक्तियाँ झुक जाती हैं। सहनशक्ति वह शक्ति है, जिसके सामने अन्य सभी शक्तियाँ छोटी पड़ जाती हैं। यह आंतरिक बल का वह रूप है, जिसके माध्यम

से व्यक्ति हर क्षेत्र में विजय प्राप्त कर सकता है। जो व्यक्ति सहनशक्ति को धारण कर लेता है, उसे इस संसार में कोई पराजित नहीं कर सकता। इसके विपरीत, जिसके पास सहनशक्ति नहीं है, वह छोटी-सी बात से भी टूट जाता है और जीवन में आगे नहीं बढ़ पाता।

महानुभाव! जीवन में सहन करना सीखना अत्यंत आवश्यक है। जो व्यक्ति सहन करना सीख जाता है, वह वास्तव में अपने स्वरूप में स्थित होना सीख जाता है। सहन करना केवल कष्ट सहना नहीं है, बल्कि परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को स्थिर बनाए रखना है। जो व्यक्ति हर परिस्थिति में स्थिर रहता है, वही अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है।

जो लोग संसार में भटकते रहते हैं, वे सहनशक्ति के अभाव में ही भटकते हैं। यदि वे सहनशक्ति को अपना लें, तो वे स्थिर होकर अपने जीवन को सही दिशा दे सकते हैं। जीवन में सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता, लाभ-हानि ये सभी स्वाभाविक हैं। इन्हें रोकना हमारे हाथ में नहीं है, परंतु इन्हें सहन करना अवश्य हमारे वश में है। जो व्यक्ति सहन करना सीख लेता है, वह जीवन के प्रत्येक उतार-चढ़ाव में स्थिर रहता है। उसके भीतर एक ऐसी आंतरिक शक्ति जाग्रत हो जाती है, जो उसे हर परिस्थिति में शांत और संतुलित बनाए रखती है।

सहनशक्ति ही वह दिव्य शक्ति है, जो व्यक्ति को बाहरी परिस्थितियों से ऊपर उठाकर उसके वास्तविक स्वरूप में

स्थापित करती है। यही सहनशीलता उसे संघर्षों में भी शांत, विपत्तियों में भी दृढ़ और सफलता में भी विनम्र बनाए रखती है।

इसलिए हमें चाहिए कि हम अपनी सहनशक्ति को निरंतर विकसित करें, कषायों को शांत करें और हर परिस्थिति को समभाव से स्वीकार करने का अभ्यास करें। जब यह भाव हमारे जीवन में दृढ़ हो जाएगा, तब न कोई परिस्थिति हमें विचलित कर सकेगी और न ही कोई विपत्ति हमें तोड़ सकेगी। तब हमारा जीवन वास्तव में शांत, स्थिर और आनंदमय बन जाएगा। इस प्रकार जो व्यक्ति अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, वह शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है।

हम और आप भी उस शाश्वत वैभव को प्राप्त करें अपनी सहनशक्ति को जाग्रत करें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्द श्रृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

पुण्यात्मा कौन?

महानुभाव! आचार्य भगवन् अजितसेन स्वामी, अपर नाम वादीभसिंह सूरी, उन्होंने क्षत्रचूडामणि ग्रंथ में भव्य जीवों के कल्याणार्थ सबसे बड़ा कारण 'पुण्य' बताया है।

पुण्यमेको महाबंधु, संसारिणां च नाऽपरे।

संसारी प्राणियों के लिए पुण्य ही महाबंधु के समान है; दूसरा कोई नहीं। पुण्य ही एक ऐसा है जो संसारी प्राणी के लिए शरणभूत है। बाल्य अवस्था से ही हम पढ़ते-सुनते आए हैं कि संसार में चार शरण हैं–

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-
अरिहंते सरणं पव्वज्जामि,
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि,
साहू सरणं पव्वज्जामि,
केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

ये अरिहंत, सिद्ध, साधु और जिनधर्म—चार शरण कही गई हैं। 'साधु' शब्द से आचार्य, उपाध्याय तथा साधु—इन तीनों का बोध होता है। यही चार शरण हैं। ये चार ही लोक में उत्तम हैं और ये चार ही मंगलस्वरूप हैं।

मंगलस्वरूप कहिए तो ये पाप को गलाने वाले और जीवन में उत्कृष्ट सुख एवं पुण्य को देने वाले हैं। इन्हें श्रेष्ठ कहें या सर्वोत्तम, ये चार ही हैं। इनसे बढ़कर कुछ भी श्रेष्ठ

नहीं। तीर्थंकर भी जब तक इस श्रेणी में नहीं आते, तब तक वे भी उत्कृष्ट नहीं हैं। जब वे साधु बनकर साधु की श्रेणी में तथा चार घातिया कर्मों को नष्ट करके अरिहंत की श्रेणी में तथा सभी कर्मों को नष्ट करके सिद्धों की श्रेणी में आते हैं, तब वे मंगल, उत्तम और शरण कहलाते हैं।

उन्हें तो प्रथम स्थान पर रखना चाहिए, क्योंकि वे धर्म के उत्पादक हैं? नहीं, कोई भी पुरुष धर्म का उत्पादक नहीं होता। धर्म तो शाश्वत है, अनादिनिधन है। व्यक्ति शाश्वत नहीं है। आत्मतत्व की अपेक्षा से वह शाश्वत है, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से नहीं। पर्याय चाहे साधु की हो या अरिहंत की, वह शाश्वत नहीं है। सिद्धों की पर्याय अनंतकाल तक तो है, किन्तु अनादि से नहीं है। इसलिए आज जो सिद्ध बने, या कल बनेंगे, अथवा कुछ समय पहले बने, उनके पहले भी धर्म था। कोई भी महापुरुष धर्म का निर्माण नहीं करता, अपितु धर्म की शरण को प्राप्त करके स्वयं अपनी आत्मा को परमात्मा बनाता है।

महानुभाव! तीर्थंकर तो एक प्रवर्तक की तरह होते हैं, संचालक की तरह होते हैं, वाहक की तरह होते हैं। जैसे कोई वाहन ड्राइवर के माध्यम से चल रहा है, तो समय-समय पर ड्राइवर तो बदल रहा है किन्तु वाहन नहीं। इसी प्रकार धर्म की गाड़ी शाश्वत है। उस गाड़ी का आश्रय जो भी लेता है, वह अपना कल्याण कर लेता है। तीर्थंकर प्रभु ने उस धर्मरूपी गाड़ी का पहले आश्रय लिया, बाद में योग्यता प्राप्त करके स्वयं कुछ समय के लिए उसके

संचालक बन गए। जैसे किसी स्कूल में कोई विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करे और पुनः उसी स्कूल में अध्यापक वा प्रधानाध्यापक बन जाए, किन्तु स्कूल तो पहले भी था और आज भी है।

यहाँ पर बताया पुण्य ही शरणभूत है। पुण्य ही महाबंधु है। ऐसा पुण्य कैसे प्राप्त हो? जिसकी महिमा गाते-गाते आचार्य भगवन् श्री कुंदकुंद स्वामीजी ने यहाँ तक कह दिया कि-**'पुण्यफला अरिहंता'**-अर्थात पुण्य का फल अरिहंत अवस्था की प्राप्ति है।

अन्य आचार्यों ने भी पुण्य का फल बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि पुण्य का ज्यों-ज्यों उत्कृष्ट फल प्राप्त होता है, त्यों-त्यों वह जीव उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त होता है। पाप की मंदता से वह निगोद से निकलकर आता है। त्रस पर्याय में आगे-आगे बढ़ते हुए वह अपने पुण्य के फल को सराहता हुआ आगे बढ़ता रहता है। चाहे वह बुद्धिपूर्वक पुण्य नहीं कर रहा है, अकेले काययोग से कर रहा है, तब भी पुण्य का उदय ही है। वचनयोग से कर रहा है, तब भी पुण्य का उदय है। और तीनों योगों से कर रहा है, तब भी वह पुण्य का उदय ही है।

तीनों योगों से किया गया पुण्य यदि सम्यक्त्व सहित है, तो मोक्ष का कारण है; और यदि वह पुण्य सम्यक्त्व से रहित है तो संसार का सुख देने में निमित्त बन सकता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य संसार का कारण नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव भी पुण्य करता है। वह उस पुण्य

के माध्यम से, यदि भोगों की आकांक्षा नहीं हो, तो वह कषायों की मंदता प्राप्त करता हुआ सम्यक्त्व के निमित्तों को प्राप्त करता है।

महानुभाव! उत्तम देश, उत्तम जाति, उत्तम कुल, उत्तम रूप-सौन्दर्य, बुद्धि की प्रगाढ़ता, श्रवण ग्रहण करने की शक्ति, जिनवचन सुनने का निमित्त इत्यादि प्राप्त करना पुण्य के फल हैं। इसलिए आचार्यों ने अनेक जगह तो आदेश का प्रयोग किया है–**'पुण्यं कुरु'** अर्थात पुण्य करो।

अमृताशीति में आचार्य भगवन् योगीन्द्रदेव ने अनेक स्थानों पर कहा है–'पुण्यं कुरु' पुण्य करो। आचार्य भगवन् रविषेण स्वामीजी ने पद्मपुराण में अनेक स्थानों पर पुण्य करने की प्रेरणा दी है। श्री जिनसेन आचार्य ने हरिवंश पुराण में, दूसरे आचार्य भगवन् जिनसेन स्वामी जी ने आदिपुराण में पुण्य के विषय में बहुत कुछ कहा है। जयसिंह आचार्य ने वरांगचरित्र में तथा दामनंदी आचार्य ने पुराणसार संग्रह में अनेक स्थानों पर पुण्य का महत्व बताया है।

श्रावकाचार एवं मूलाचार तथा आदि चरणानुयोग के ग्रंथों में आचार्यों ने जहाँ सरागी मुनियों की चर्या कही, वहाँ पर भी यही बात कही कि 'उपयोग शुभ में लगाओ, पाप से बचो'। शुद्धोपयोग में पहुँचने का सामर्थ्य नहीं है तो शुभोपयोग में रहो और उत्कृष्ट पुण्य का संचय करो।

श्रावकों के लिए तो स्पष्ट कह दिया कि उनके पास तो दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं। उनको शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो नहीं सकता। शुद्धोपयोग की प्राप्ति महाव्रती सकल-संयमी

को ही होती है। वह भी सरागचर्या पालन करते हुए नहीं, वीतरागचर्या में जाते हुए। प्रमाद की अवस्था में नहीं, अप्रमाद अवस्था में। इसीलिए श्रावक के पास तो एक ही उपाय है–वह अशुभ से बचकर, शुभ में लग जाए और शुभ में लगते हुए यदि वह पुण्य करता है और उसकी आकांक्षा नहीं रखता, तो उसका वही पुण्य नियम से मोक्ष का, मोक्षमार्ग का कारण बनता है। आचार्य भगवन् श्री देवसेन स्वामीजी ने भावसंग्रह में लिखा है–

सम्माइट्ठी पुण्णं, ण होई संसार कारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउ जहवि णियाणं ण कुणइ॥

सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं है। फिर वह किसका कारण है? वह नियम से मोक्ष का ही हेतु होता है। यदि निदान नहीं करता, तो मोक्ष का कारण है, और यदि निदान करता है, तो जो माँगेगा, सो मिल जाएगा।

पुण्य तो आपकी जेब में रखा हुआ धन है, अथवा आपके पास रखी हुई चेकबुक है। उसमें हस्ताक्षर करके जिसे देंगे, वह उसे प्राप्त कर लेगा। यदि उस पुण्य से आप कुछ नहीं माँगते हो, तो नियम से उस पुण्य से आपको मोक्षमार्ग मिलता है। किन्तु बात यह है कि पुण्य की इतनी महिमा है कि पुण्य से इष्ट पदार्थों की प्राप्ति स्वतः होती है। जंगल में मंगल हो जाता है, मिट्टी को छुओ, तो वह सोना हो जाती है। शत्रु भी मित्र का कार्य करता है, स्वर्ग के देवता आकर पूजा करने लगते हैं।

यदि इस पुण्य की इतनी महिमा है, तो इस पुण्य को प्राप्त कैसे करें? ऐसे कौन-से उपाय हैं, जिनके माध्यम से

पुण्य को प्राप्त किया जा सके? चलो, चलते हैं आचार्य भगवन् कुलभद्र स्वामी के पास। वे पुण्य-संचय के विषय में क्या कह रहे हैं और किस जीव को पुण्यात्मा कह रहे हैं? उनकी दृष्टि में पुण्यात्मा कौन है? क्या वह जिसने उच्चकुल प्राप्त कर लिया, उच्च जाति प्राप्त कर ली, अच्छी संगत प्राप्त कर ली, सुंदर शरीर, दीर्घायु प्राप्त कर ली? ये सब पुण्य के फल हैं, तो क्या वह पुण्यात्मा है?

आचार्य महोदय की कथन करने की पद्धति यह है कि जो पुण्य के फल को भोग रहा है वह पापी जीव भी हो सकता है; किन्तु जो वर्तमान में शुभ परिणामों से शुभ आस्रव करता हुआ उत्कृष्ट पुण्य का बंध कर रहा है, उस समय वह जीव पुण्यात्मा है। वर्तमानकाल में पुण्य का संचय करने वाला ही पुण्यात्मा माना जाता है। भूतकाल में पुण्य का संचय किया, आज उसका फल भोग रहा है, वह एक विटपुरुष भी हो सकता है, एक नगरनारि (वेश्या) भी हो सकती है या एक चोर अथवा व्यसनी भी हो सकता है, जिसने पूर्व पुण्य से राजपुत्र के रूप में जन्म लिया हो। राजपुत्र होकर भी वे पाप में आसक्त हो सकते हैं और नरकादि खोटी आयु का बंध भी कर सकते हैं। जो इस समय नरकादि खोटी आयु का बंध कर रहा है, क्या उसे पुण्यात्मा कह देंगे? चाहे वह भले ही चक्रवर्ती ही क्यों न हो, उसे पुण्यात्मा नहीं कह सकते।

इसीलिए आचार्य महोदय ने कहा—**पुण्यात्मा कौन?** जो ये तीन कार्य कर रहा है, वही पुण्यात्मा है।

गुरु सुश्रूषया जन्म, चित्तं सद्ध्यान चिन्तया।
श्रुतं यस्य समायाति, विनियोगं स पुण्यभाक्।।19।।

जो मनुष्य गुरु की विनयपूर्वक सेवा करता है, सदैव शुभ एवं धर्ममय चिंतन करता है, और शास्त्रों को केवल पढ़ता ही नहीं, बल्कि उसे अपने जीवन में उतारता है, वही वास्तव में पुण्य का अधिकारी बनता है। उस निष्कांक्ष पुण्य का फल तीन रत्नों की प्राप्ति है–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। दूसरे शब्दों में कहें, इनका फल मोक्षमार्ग की प्राप्ति है।

पुण्य का भाजक वह है, जो अपने अतीत के पुण्य को वर्तमान में नए पुण्य के अर्जन में लगा रहा है।

आप अपने धन को बढ़ाने के लिए क्या करते हैं? यदि कुछ भी नहीं, तो घर में रखा हुआ धन नहीं बढ़ेगा। कोई सोना (Gold) खरीदकर रख लेता है, कोई धातुओं में निवेश करता है, कोई जमीन लेकर डाल देता है, क्योंकि उसे कोई उठाकर नहीं ले जा सकता। और कुछ व्यक्ति अन्य प्रकार से शेयरमार्केट में लगा देते हैं। इस प्रकार वह अपने धन को सही जगह लगाकर बढ़ाना चाहता है। और जो अपने धन को बढ़ा लेता है, उसे आज के युग में बुद्धिमान कहा जाता है। उसने एक साल में एक लाख का पाँच लाख कर लिया, या एक करोड़ का दस करोड़ कर लिया।

ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव अपने पुण्य के फल से आगे और पुण्य कमाता है। जैसे ब्याज दो प्रकार की होती

है–सरल ब्याज और चक्रवृद्धि ब्याज। सरल ब्याज में मूलधन ब्याज की दर और समय के अनुसार सीधा हिसाब लगाया जाता है। किन्तु चक्रवृद्धि ब्याज में जो ब्याज प्रत्येक वर्ष प्राप्त होता है, उस पर भी ब्याज जुड़ता जाता है। इसी प्रकार जो कोई भी भव्य जीव अपने पुण्य को चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ाता जाता है, वह आगे चलकर चक्रवर्ती बन जाता है। परन्तु जो अपने पुण्य को केवल भोगता ही जाता है, उसका क्या होता है? खाया-खोया बह गया, अब जो बोया था वह समूल खा गया, बीज भी नहीं बचा, आगे फसल कहाँ से मिलेगी? वैराग्य भावना में आप पढ़ते हैं–

बीज राखि फल भोगवै, ज्यों किसान जग माहिं।
त्यों चक्री नृप सुख करै, धर्म बिसारै नाहिं॥

वज्रनाभि चक्रवर्ती की यह वैराग्य भावना कह रही है कि वह धर्म को भूले बिना पूर्व के पुण्य का सदुपयोग करता है। वर्तमान में उससे नया पुण्य कमाता है। उस उत्कृष्ट पुण्य से वह मोक्षमार्ग बना देता है और कालान्तर में, जब वह पुण्य-प्रकृति नष्ट हो जाती है, तब सिद्धालय के द्वार में पहुँचा देती है।

यहाँ पर आचार्य महोदय ने पुण्य के तीन कारण बताए हैं। हमारे पास चार साधन हैं–पहला शरीर, दूसरा वचन, तीसरा मन और चौथा साधन है धन। जिस व्यक्ति का मन, वचन और काय पुण्य में लगे हों, उसका धन भी पुण्य में लग जाएगा; और जिसका मन, वचन तथा काय पाप में लगा हो, उसका धन भी पाप में ही लगेगा, पुण्य में नहीं लग पाएगा।

कई बार व्यक्ति सोचते हैं कि मैं अपने धन को पुण्य में लगा दूँ। परन्तु पाप से कमाया हुआ धन पुण्य में नहीं लगता। यदि किसी को यह परीक्षा करनी हो कि मेरा यह धन पुण्यरूप है या पापरूप, तो उसकी भी परीक्षा की जा सकती है। जो भी धन आपने कमाया है, उसे अपनी मुट्ठी में लेकर सोचिए–उस धन को देखते ही आपके मन में सबसे पहला विचार क्या आता है? किसी पुण्य कार्य को करने का या विषयभोगों को भोगने का? अथवा घर की सामग्री, आभूषण, वस्त्र या गृह–उपयोगी वस्तुओं को खरीदने का? यदि यही विचार पहले आता है तो समझ लेना चाहिए कि वह धन कैसा है। और यदि विचार आता है कि मैं अमुक व्यक्ति को छोड़ूँगा नहीं, बदला लेकर रहूँगा, जेल भिजवाकर रहूँगा, वह तड़प–तड़पकर मरे। यदि ऐसे खोटे विचार आ रहे हैं, तो वह धन आपने तीव्र पाप से कमाया है। और यदि धन को देखकर यह भावना आती है कि मैं इस धन को जिनप्रतिमा विराजमान कराने में लगा दूँ, मंदिर का वैभव बढ़ाने में लगाऊँ, तो जो मंदिर का वैभव बढ़ाता है, उसे स्वर्ग के विमानों में अपने आप वैभव मिलता है।

जिसका धन जिनवाणी के प्रचार–प्रसार में लगता है, उसे समवसरण में जाकर जिनवचन सुनने का अवसर अग्रिम पंक्ति में मिलता है। वह व्यक्ति श्रुतकेवली व गणधर अवस्था को प्राप्त करता है और अंततः केवली बनता है। मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति अपना धन धर्मात्माओं की सेवा में तथा उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों के आहार आदि दान में लगाता है, निःसंदेह वह भी उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्र बनता हुआ मोक्षमार्गी बन जाता है।

पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज कहा करते थे कि **''पाव भर आटे में मोक्षमार्ग मिलता है।''** उन्होंने अपने उपदेश में समझाया कि श्रावक पाव भर आटे की चार रोटियाँ बनाकर, कुछ न हो तो नमक के साथ ही किसी साधु को खिला दे, पानी पिला दे, तो साधु को प्राप्त होने वाले मोक्षमार्ग का एक-षष्ठांश (1/6) फल वह श्रावक प्राप्त कर लेता है।

महानुभाव! यहाँ तीन साधन बताए—मन, वचन और काय। धन तो पिछलग्गू है, जैसे आपकी परछाई होती है। शरीर के माध्यम से कैसे पुण्य कमाएँ? 'गुरु सुश्रूषया' अर्थात गुरुओं की सेवा, वैय्यावृत्ति करके। परम दयालु, आरंभ परिग्रह एवं विषय-वासनाओं के त्यागी, ज्ञान, ध्यान तथा तप में लीन रहने वाले, सन्मार्ग के उपदेष्टा गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा और भक्ति करके जिनका जन्म व्यतीत होता है, वे विवेकी प्राणी अपने तन का सदुपयोग करके पुण्य का अर्जन करते हैं। वे भगवान् की आज्ञा का पालन, आहारादि दान व पूजा-भक्ति के माध्यम से अपने श्रावकधर्म का कर्त्तव्य निर्वहन करते हैं।

'सद्ध्यान चिन्तया' जो चित्त के माध्यम से समीचीन तत्त्वचिंतन करके अपने मन का सदुपयोग करता है, अथवा यूँ कहें कि मन के द्वारा पुण्य कमाता है। वह आर्त्त-रौद्रध्यान नहीं करता। धर्म के निमित्तों के बीच रहकर अपने मन की दिशा को संसार में भटकने नहीं देता। शास्त्रों के चिन्तन से विषय-कषायों में भटकते मन को हटाकर धर्मध्यान

द्वारा आत्मचिन्तन करता है। जिनशासन की प्रभावना में और गुरुभक्ति में अपने मन का सदुपयोग करके पुण्य कमाता है।

'श्रुतं यस्य समायाति' जिनवचनों को सुनकर अपने व्यवहार को सुधारो। चित्त में समत्व भाव लाने की कोशिश करो। ऐसी वाणी बोलो जिससे आपकी व दूसरों की कषायें भी शान्त हो जाएँ। इस प्रकार 'विनियोगं स पुण्यभाक्' इन साधनों के द्वारा जो पुण्य कमाता है, वही पुण्यात्मा कहलाता है।

महानुभाव! आचार्य महोदय की दृष्टि में इस पृथ्वी पर वही पुण्यात्मा है, उसी का जीवन सफल है, उसी की बुद्धि समीचीन है, जो अपने मन, वचन और काय रूपी साधनों का सदुपयोग पुण्य के विनियोग में करता है। सद्गुरुओं की सेवा द्वारा, जिनदेव की भक्ति द्वारा, सुपात्रों को दान देकर, पंचपरमेष्ठी के गुणों के चिन्तवन द्वारा, गुणानुराग द्वारा, शास्त्र श्रवण द्वारा, सत्य, हित, मित, प्रिय वचनों द्व ारा सदैव धर्म के उपार्जन में तत्पर रहते हैं, वे ही पुण्यवान् हैं, वे पुरुष नरशिरोमणि कहलाते हैं। ऐसे सर्वश्रेष्ठ महापुरुष को यहाँ पुण्यात्मा कहा जो अपने मन, वचन, शरीर और धन का उपयोग धर्म में करता है, वही वास्तविक अर्थ में पुण्यात्मा है।

महानुभाव! पूर्व का पुण्य हमें सुख दे सकता है, पर वर्तमान का पुण्य ही हमारा भविष्य और मोक्षमार्ग प्रशस्त करता है। इसलिए पुण्य के भोगी नहीं, पुण्य के सृजक बनें। इन्हीं सद्भावनाओं के साथ अपनी शब्दश्रृंखला को विराम देते हैं।

॥ श्री शांतिनाथ भगवान की जय ॥

परम पूज्य अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108

वसुनंदी जी मुनिराज द्वारा

रचित व संपादित साहित्य

मौलिक कृतियाँ

(प्राकृत साहित्य)			
क्र.सं.	नाम	क्र.सं.	नाम
1.	प्राकृत वाणी भाग-1	2.	प्राकृत वाणी भाग-2
3.	प्राकृत वाणी भाग-3	4.	प्राकृत वाणी भाग-4
5.	प्राकृत वाणी भाग-5	6.	अहिंसगाहारो (अहिंसक आहार)
7.	अज्ज-सक्किदी (आर्य संस्कृति)	8.	अणुवेक्खा-सारो (अनुप्रेक्षा सार)
9.	जिणवर-थोत्तं (जिनवर स्तोत्र)	10.	जदि-किदि-कम्मं(यति कृतिकर्म)
11.	णंदिणंद-सुत्तं (नंदीनंद सूत्र)	12.	णिग्गंथ-थुदी (निर्ग्रन्थ स्तुति)
13.	तच्चसारो (तत्त्व सार)	14.	धम्म सुत्तं (धर्म सूत्र)
15.	अप्प-विहवो (आत्म वैभव)	16.	सुद्धप्पा (शुद्धात्मा)
17.	अप्पणिब्भर-भारदं (आत्मनिर्भर भारत)	18.	विज्जा-वसु-सावयायारो (विद्यावसु श्रावकाचार)
19.	रट्ठ-संति-महाजण्णो (राष्ट्र शांति महायज्ञ)	20.	अट्ठंग जोगो (अष्टांग योग)
21.	णमोयार महप्पुरो (णमोकार माहात्म्य)	22.	मूल-वण्णो (मूल वर्ण)
23.	मंगल-सुत्तं (मंगल सूत्र)	24.	विस्स-धम्मो (विश्व धर्म)
25.	विस्स-पुज्जो-दियंबरो (विश्व पूज्य दिगम्बर)	26.	समवसरण सोहा (समवसरण शोभा)
27.	वयण-पमाणत्तं (वचन प्रमाणत्व)	28.	अप्पसत्ती (आत्म शक्ति)
29.	कला-विण्णाणं (कला विज्ञान)	30.	को विवेगी (विवेकी कौन)
31.	पुण्णासव-णिलयो (पुण्यास्रव निलय)	32.	तित्थयर-णामत्थुदी (तीर्थंकर नाम स्तुति)
33.	रयणकंडो (सूक्ति कोश)	34.	धम्मस्स सुत्ति संगहो
35.	कम्म-सहावो (कर्म स्वभाव)	36.	खवगराय सिरोमणी (क्षपकराज शिरोमणि)
37.	सिरि सीयलणाह-चरियं (श्री शीतलनाथ चरित्र)	38.	अज्झप्प-सुत्ताणि (अध्यात्म सूत्र)
39.	समणायारो (श्रमणाचार)	40.	असोग-रोहिणी-चरियं (अशोक रोहिणी चरित्र) (महाकाव्य)
41.	लोगुत्तरविट्टी (लोकोत्तर वृत्ति)	42.	समणभावो (श्रमण भाव)
43.	झाणसारो (ध्यानसार)	44.	इड्ढिसारो (ऋद्धिसार)
45.	जिणवयणसारो (जिनवचनसार)	46.	भत्तिगुच्छो (भक्ति गुच्छ)
47.	पसमभावो (प्रशम भाव)	48.	सम्मेदसिहर महप्पुरो (सम्मेदशिखर महात्म्य)

49.	अम्हाण आयवत्तो (हमारा आर्यावर्त्त)	50.	विणयसारो (विनय सार)
51.	तव-सारो (तप सार)	52.	भाव-सारो (भाव सार)
53.	दाण-सारो (दान सार)	54.	लेस्सा-सारो (लेश्या सार)
55.	वेरग्ग-सारो (वैराग्य सार)	56.	णाण-सारो (ज्ञान सार)
57.	णीदि-सारो (नीति सार)	58.	आयंस-सिक्खाविही (आदर्श शिक्षाविधि)
59.	दंसण-परिक्खा (दर्शन परीक्षा)	60.	महाणुभावो (महानुभाव)
61.	उववासो (उपवास)	62.	संजम-सारो (संयमसार)
63.	सम्मत्त-सारो (सम्यक्त्व सार)	64.	सज्जण-वयण-विलासो (सज्जन वचन विलास)
65.	विदु-वाणी	66.	सूदग-पादग-णिण्णय-विही (सूतक-पातक निर्णय विधि)
67.	सगसरूवावलोयणं (स्वस्वरूपावलोकन)	68.	सुद्धप्प-थुदी-(शुद्धात्म स्तुति)
69.	पण्ह-बोहो (प्रश्न बोध)	70.	मइथिली-सुत्तं (मैथिली सूत्र)

टीका ग्रंथ

1.	प्रमेया टीका-रत्नमाला (संस्कृत)	2.	वसुधा टीका-द्रव्यसंग्रह (संस्कृत)
3.	नय प्रबोधिनी-आलाप पद्धति (हिंदी)	4.	श्रीनंदा टीका-सिद्धिप्रिय स्तोत्र (संस्कृत)

इंग्लिश साहित्य

1.	Inspirational Tales Part& 1&2	2.	Meethe Pravachan Part-I

वाचना साहित्य

1.	इष्टोपदेश (मुक्ति का वाग्दान)	2.	प्रश्नोत्तर रत्नमालिका (बोधि वृक्ष)
3.	सामायिक पाठ (शिवपथ का रथ)	4.	समाधि तंत्र (स्वात्मोपलब्धि)
5.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार (श्रावकधर्म-संहिता)	6.	ज्ञानांकुश (तत्त्व चिंतन के सूत्र)

प्रवचन साहित्य

1.	आईना मेरे देश का	2.	उत्तम क्षमा धर्म (आत्मा का ए.सी. रूम)
3.	उत्तम मार्दव धर्म (मान महाविष रूप)	4.	उत्तम आर्जव धर्म (रंचक दगा बहुत दु:खदानी)
5.	उत्तम शौच धर्म (लोभ पाप का बाप बखाना)	6.	उत्तम सत्य धर्म (सतवादी जग में सुखी)
7.	उत्तम संयम धर्म (जिस बिना नहिं जिनराज सीझे)	8.	उत्तम तप धर्म (तप चाहे सुरराय)
9.	उत्तम त्याग धर्म (निज हाथ दीजे साथ लीजे)	10.	उत्तम आकिंचन धर्म (परिग्रह चिंता दु:ख ही मानो)

11.	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म (चेतना का भोग)	12.	खुशी के आँसू
13.	खोज क्यों रोज-रोज	14.	गुरुत्तं भाग 1
15.	गुरुत्तं भाग 2	16.	गुरुत्तं भाग 3
17.	गुरुत्तं भाग 4	18.	गुरुत्तं भाग 5
19.	गुरुत्तं भाग 6	20.	गुरुत्तं भाग 7
21.	गुरुत्तं भाग 8	22.	गुरुत्तं भाग 9
23.	गुरुत्तं भाग 10	24.	गुरुत्तं भाग 11
25.	गुरुत्तं भाग 12	26.	गुरुत्तं भाग 13
27.	गुरुत्तं भाग 14	28.	गुरुत्तं भाग 15
29.	गुरुत्तं भाग 16	30.	गुरुत्तं भाग 17
31.	गुरुत्तं भाग 18	32.	गुरुत्तं भाग 19
33.	गुरुत्तं भाग 20	34.	चूको मत
35.	जय बजरंगबली	36.	जीवन का सहारा
37.	ठहरो! ऐसे चलो	38.	तैयारी जीत की
39.	दशामृत	40.	धर्म की महिमा
41.	ना मिटना बुरा है न पिटना	42.	नारी का धवल पक्ष
43.	शायद यही सच है	44.	श्रुत निर्झरी
45.	सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा	46.	सीप का मोती (महावीर जयंती)
47.	स्वाती की बूँद		

हिंदी गद्य रचना			
1.	अन्तर्यात्रा	2.	अच्छी बातें
3.	आज का निर्णय	4.	आ जाओ प्रकृति की गोद में
5.	आधुनिक समस्यायें प्रमाणिक समाधान	6.	आहारदान
7.	एक हजार आठ	8.	कलम पट्टी बुद्धिका
9.	गागर में सागर	10.	गुरु कृपा
11.	गुरुवर तेरा साथ	12.	जिन सिद्धांत महोदधि
13.	डॉक्टरों से मुक्ति	14.	दान के अचिन्त्य प्रभाव
15.	धर्म बोध संस्कार (भाग 1-4)	16.	धर्म संस्कार (भाग 1-2)
17.	निज अवलोकन	18.	वसु विचार
19.	वसुनन्दी उवाच	20.	मीठे प्रवचन (भाग 1)
21.	मीठे प्रवचन (भाग 2)	22.	मीठे प्रवचन (भाग 3)
23.	मीठे प्रवचन (भाग 4)	24.	मीठे प्रवचन (भाग 5)
25.	मीठे प्रवचन (भाग 6)	26.	मीठे प्रवचन (भाग 7)

27.	रोहिणी व्रत कथा	28.	स्वप्न विचार
29.	सद्गुरु की सीख	30.	सफलता के सूत्र
31.	सर्वोदयी नैतिक धर्म	32.	संस्कारादित्य
33.	हमारे आदर्श		

हिंदी काव्य रचना			
1.	अक्षरातीत	2.	कल्याणी
3.	चैन की जिंदगी	4.	ना मैं चुप हूँ ना गाता हूँ
5.	मुक्ति दूत के मुक्तक	6.	हाइकू
7.	हीरों का खजाना	8.	सुसंस्कार वाटिका

विधान रचना			
1.	कल्याण मंदिर विधान	2.	कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान
3.	चौसठऋद्धि विधान	4.	णमोकार महार्चना
5.	दु:खों से मुक्ति (बृहद् सहस्रनाम महार्चना)	6.	यागमंडल विधान
7.	श्री समवशरण महार्चना	8.	श्री नंदीश्वर विधान
9.	श्री सम्मेदशिखर विधान	10.	श्री अजितनाथ विधान
11.	श्री संभवनाथ विधान	12.	श्री पद्मप्रभ विधान
13.	श्री चंद्रप्रभ विधान (देहरा तिजारा)	14.	श्री चंद्रप्रभ विधान
15.	श्री पुष्पदंत विधान	16.	श्री शांतिनाथ विधान
17.	श्री मुनिसुव्रतनाथ विधान	18.	श्री नेमिनाथ विधान
19.	श्री महावीर विधान	20.	श्री जम्बूस्वामी विधान
21.	श्री भक्तामर विधान	22.	श्री सर्वतोभद्र महार्चना
23.	श्री पंचमेरू विधान	24.	लघु नंदीश्वर विधान
25.	श्री चौबीसी महार्चना	26.	अभिनव सिद्धचक्र महार्चना
27.	अभिनव सिद्धचक्र मंत्रार्चना		

संपादित कृतियाँ (संस्कृत प्राकृत साहित्य)			
1.	आराधना सार (श्रीमद्देवसेनाचार्य जी)	2.	आराधना समुच्चय (श्री रविचन्द्राचार्य)
3.	आध्यात्म तरंगिणी (आचार्य सोमदेव सूरी जी)	4.	कर्म विपाक (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	कर्मप्रकृति (सिद्धांतचक्रवर्ती आ. श्री अभयचंद्र जी)	6.	गुणरत्नाकर (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
7.	चार श्रावकाचार संग्रह	8.	जिनकल्पि सूत्र (श्री प्रभाचंद्राचार्य जी)

9.	जिन श्रमण भारती (संकलन-भक्ति, स्तुति, ग्रंथादि)	10.	जिन सहस्रनाम स्तोत्र
11.	तत्त्वार्थ सार (श्री मदमृताचन्द्राचार्य सूरि)	12.	तत्त्वार्थस्य संसिद्धि
13.	तत्त्वार्थ सूत्र (आ. श्री उमास्वामी जी)	14.	तत्त्वज्ञान तरंगिणी (श्री मद्भट्टारक ज्ञानभूषण जी)
15.	तच्च वियारो सारो (आ. श्री वसुनंदी जी)	16.	तत्व भावना (आ. श्री अमितगति जी)
17.	धर्म रत्नाकर (श्री जयसेनाचार्य जी)	18.	धम्म रसायण (आ. श्री पद्मनंदी स्वामी जी)
19.	ध्यान सूत्राणि (श्री माघनंदी सूरी)	20.	नीतिसारसमुच्चय (आ. श्री इंद्रनंदीस्वामी जी)
21.	पंच विंशतिका (आ. श्री पद्मनंदी जी)	22.	प्रकृति समुत्कीर्तन (सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य जी)
23.	पंचरत्न	24.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आ. श्री अमृतचंद्रस्वामी जी)
25.	मरणकण्डिका (आ. श्री अमितगति जी)	26.	भगवती आराधना (आ. श्री शिवकोटी स्वामी जी)
27.	भावत्रयफलप्रदर्शी (आ. श्री कुंथुसागर जी)	28.	मूलाचार प्रदीप (आ. श्री सकलकीर्तिस्वामी जी)
29.	योगामृत (भाग 1-2) (मुनि श्रीबाल चंद्र जी)	30.	योगसार (भाग 1, 2) (मुनि श्री बालचंद्र जी)
31.	रयणसार (आ. श्री कुंदकुंद स्वामी)	32.	वसुऋद्धि
*	रत्नमाला (आ. श्री शिवकोटि स्वामी जी)	*	स्वरूप संबोधन (आ. श्री अकलंक देव जी)
*	पूज्यपाद श्रावकाचार (आ. श्री पूज्यपाद जी)	*	इष्टोपदेश (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)
*	लघु द्रव्य संग्रह (आ. श्री नेमीचंद्र स्वामी जी)	*	वैराग्यमणिमाला (आ. श्री विशालकीर्ति जी)
*	अर्हत् प्रवचनम् (आ. श्री प्रभाचंद्र स्वामी जी)	*	ज्ञानांकुश (आ. श्री योगीन्द्र देव)
33.	सुभाषित रत्न संदोह (आ. श्री अमितगतिस्वामी जी)	34.	सिन्दूर प्रकरण (आ. श्री सोमदेव स्वामी जी)
35.	समाधि तंत्र (आ. श्री पूज्यपाद स्वामी जी)	36.	समाधि सार (आ. श्री समंतभद्र स्वामी जी)
37.	सार समुच्चय (आ. श्री कुलभद्र स्वामी जी)	38.	विषापहार स्तोत्र (महाकवि धनंजय)

प्रथमानुयोग साहित्य			
1.	अमरसेन चरित्र (कविवर माणिक्कराज जी)	2.	आराधना कथा कोश (ब्र. श्री नेमीदत्त जी) (भाग 1-2-3)
3.	करकण्डु चरित्र (मुनि श्री कनकामर जी)	4.	कोटिभट श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
5.	गौतम स्वामी चारित्र (मण्डलाचार्य श्री धर्मचंद्र जी)	6.	चारूदत्त चरित्र (ब्र. श्री नेमीदत्त जी)

7.	चित्रसेन पद्मावती चरित्र (पं. पूर्णमल्ल जी)	8.	चेलना चरित्र
9.	चंद्रप्रभ चरित्र	10.	चौबीसी पुराण
11.	जिनदत्त चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)	12.	त्रिवेणी (संग्रह ग्रंथ)
13.	देशभूषण कुलभूषण चरित्र	14.	धर्मामृत (भाग 1-2) (श्री नयसेनाचार्य जी)
15.	धन्यकुमार चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	16.	नागकुमार चरित्र (आ. श्री मल्लिषेण जी)
17.	नंगानंग कुमार चरित्र (श्रीमान् देवदत्त)	18.	प्रभंजन चरित्र (कविवर ब्रह्मराय)
19.	पाण्डव पुराण (श्री मदाचार्य शुभचंद्र देव)	20.	पार्श्वनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
21.	पुण्याश्रव कथा कोष (भाग 1-2) (श्री रामचंद्र मुमुक्षु)	22.	पुराण सार संग्रह (भाग 1-2) (आ. श्री दामनंदी जी)
23.	भरतेश वैभव (कवि रत्नाकर)	24.	भद्रबाहु चरित्र
25.	मल्लिनाथ पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	26.	महीपाल चरित्र (कविवर श्री चारित्र भूषण)
27.	महापुराण (भाग 1-2)	28.	महावीर पुराण (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
29.	मौनव्रत कथा (आ. श्री श्रीचंद्र स्वामी जी)	30.	यशोधर चरित्र
31.	रामचरित्र (भाग 1-2) (आ. श्री सोमदेव स्वामी)	32.	रोहिणी व्रत कथा
33.	व्रत कथा संग्रह	34.	वरांग चरित्र (आ. श्री जटासिंह नंदी)
35.	विमलनाथ पुराण (श्री ब्रह्मचारीश्वर कृष्णदास जी)	36.	वीर वर्धमान चरित्र
37.	श्रेणिक चरित्र	38.	श्रीपाल चरित्र (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
39.	श्री जम्बूस्वामी चरित्र (श्री वीर कवि)	40.	शांतिनाथ पुराण (भाग 1-2) (कवि असग जी)
41.	सप्तव्यसन चरित्र (आ. श्री सोमकीर्ति भट्टारक)	42.	सम्यक्त्व कौमुदी
43.	सती मनोरमा	44.	सीता चरित्र (श्री दयाचंद गोलीय)
45.	सुरसुंदरी चरित्र	46.	सुलोचना चरित्र
47.	सुकुमाल चरित्र	48.	सुशीला उपन्यास (पं. गोपालदास बरैया)
49.	सुदर्शन चरित्र (आ. विद्यानंदि मुनि)	50.	सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
51.	हनुमान चरित्र	52.	क्षत्र चूड़ामणि (जीवंधर चरित्र)

संपादित हिंदी साहित्य

1. अरिष्ट निवारक त्रय विधान
   - नवग्रह विधान
   - वास्तु निवारण विधान
   - मृत्युंजय विधान (पं. आशाधर जी कृत)

2.	श्री जिनसहस्रनाम एवं पंचपरमेष्ठी विधान		
3.	श्री जिनसहस्रनाम विधान (लघु) आदि एक नाम अनेक		
4.	शाश्वत शांतिनाथ ऋद्धि विधान • भक्तामर विधान (आ. मानतुंग स्वामी जी (मूल) • शांतिनाथ विधान (पं. ताराचंद्र जी) • सम्मेदशिखर विधान (पं. जवाहर दास जी)		
5.	कुरल काव्य (संत तिरुवल्लुवर)	6.	तत्त्वोपदेश (छहढाला) (पं. प्रवर दौलतराम जी)
7.	दिव्य लक्ष्य (संकलन- हिंदी पाठ, स्तुति आदि)	8.	धर्म प्रश्नोत्तर (आ. श्री सकलकीर्ति जी)
9.	प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (आ. श्री सकलकीर्ति जी)	10.	भक्तिसागर (चौबीसी चालीसा संग्रह)
11.	विद्यानंद उवाच (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)	12.	सुख का सागर (चौबीसी चालीसा)
13.	संसार का अंत	14.	स्वास्थ्य बोधामृत
15.	पिच्छि-कमण्डलु (आ. श्री विद्यानंद जी मुनिराज)		

गुरु पद विनयांजली साहित्य			
1.	आचार्य श्री विद्यानंद जी की यम सल्लेखना (मुनि प्रज्ञानंद)	2.	अक्षर शिल्पी (मुनि शिवानंद)
3.	पगवंदन (मुनि शिवानंद प्रशमानंद)	4.	वसुनंदी प्रश्नोत्तरी (मुनि जिनानंद, ऐ. विज्ञान सागर)
5.	दृष्टि दृश्यों के पार (आ. श्री वर्धस्व नंदनी, वर्चस्व नंदनी)	6.	स्मृति पटल से भाग-1 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)
7.	स्मृति पटल से भाग-2 (आ. श्री वर्धस्व नंदनी)	8.	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी (ऐलक विज्ञान सागर)
9.	गुरु आस्था (ऐलक विज्ञान सागर)	10.	परिचय के गवाक्ष में (ऐलक विज्ञान सागर)
11.	स्वर्णोदय (ऐलक विज्ञान सागर)	12.	स्वर्ण जन्मजयंती महोत्सव (ऐलक विज्ञान सागर)
13.	हस्ताक्षर (ऐलक विज्ञान सागर)	14.	वसु संबुध (महाकाव्य) (प्रो. डॉ. उदयचंद जी जैन)
15.	समझाया रविन्दु न माना (सचिन जैन 'निकुंज')		

जिणवाणी-थुदी

महुरं विसदं पिय-गंभीरं
हिदयरं मिदं सिरिजिणवाणिं।

अणेगंतमयं सिआवायमयं
णिरुवमं समं सिरिजिणवाणिं।

जिणसव्वंगादो णिस्सरिदं
भविचित्तहरं सिरिजिणवाणिं।

बारस-अंगेहिं संजुत्तं
लोएपुज्जं सिरिजिणवाणिं।

कंठादिवचोकारणरहिदं
तयरोयहरं सिरिजिणवाणिं।

जगमंगल्लं जगकल्लाणिं
पणमामि सया सिरिजिणवाणिं।